उपाध्याय ग्रन्थमाला, ग्रन्थ संख्या-२

साहित्य तथा साहित्यकार

लेखक
डा॰ देवराज उपाध्याय, एम॰ ए॰ पी एच॰ डी॰
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
महाराजा कालेज, जयपुर

मंगल प्रकाशन
गोविन्द राजियों का रास्ता, जयपुर

प्रकाशक :
मंगल प्रकाशन,
गोविन्द राजियों का रास्ता,
जयपुर

पृष्ठ संख्या : २६० : मूल्य : ५) पांच रुपये
प्रथम संस्करण : नवम्बर, १९६०

मुद्रक :
सहकारी आर्ट प्रिन्टर्स,
जयपुर

समर्पण

माई स्व० रत्नावती के पूज्य चरणों में,

जो माई के मरने पर, कुछ दिनों के लिए माई बनीं, स्नेह संपोषण देकर फिर माई ही बन गईं अर्थात् वहीं चली गई जहां माई गईं थीं, जहाँ से कोई नहीं लौटा? माता, चाहे कन्यादाता ही क्यों न हो, कितनी दुर्लभ है, यह मुझ से अधिक कौन जान सकता है?

—बच्चा

:: स्वगत ::

"साहित्य तथा साहित्यकार" मेरी नवीनतम कृति है । कृति है, ऐसा कहते हुए असमंजस सा हो रहा है क्योंकि कृतित्व में अपनत्व की भावना अधिक रहती है अर्थात् कृति शब्द को ऐसी ही रचना के लिए प्रयोग में लाना चाहिए, जिसमें मौलिकता हो अर्थात् जो बात वहां कही गई हो, वह स्वतः-चिंतन तथा मनन में से निकली हो, लेखक की अपनी चीज हो, उसकी अपनी कृति हो और उसमें संग्रहत्व कम हो । मैं ऐसा दावा "साहित्य तथा साहित्यकार" की ओर से उपस्थित नहीं कर सकता । ऐसा लगता है कि मैं पद-पद पर दूसरे विचारकों का ऋणी हूं । "बचपन के दो दिन" ठीक इसके पूर्व वाली रचना में, ऐसा लगता है, मेरा कृतित्व अधिक था । उसका अधिकांश मेरा अपना था । पर "साहित्य तथा साहित्यकार" में मैं हूं ही नहीं, ऐसी बात नहीं । लिखते-लिखते जब मैं किसी उलझनमयी परिस्थिति में पड़ गया हूं तो वहां पर मेरे 'मैं' ने ही सहायता की है । वैसे अपने से मुक्त होना सबके लिए कठिन ही होता है !

यह पुस्तक साहित्य की समस्याओं को समझने में कहां तक सहायक होगी, मैं नहीं कह सकता; परन्तु एक बात तो स्पष्ट ही है कि साहित्य की समस्या को यहां एक विशिष्ट ढंग से छेड़ा गया है । एक नया प्रश्न छेड़ा गया है कि साहित्य में हम क्या चीज ढूंढते हैं । जब हम किसी पुस्तक को पढ़ते हैं, तो क्यों पढ़ते हैं ? रचना के स्थापत्य को देखने के लिए ? उसके

भावों में प्रवाहित होने के लिए ? उससे अपने ज्ञान-भंडार को समृद्ध करने के लिए ? उसमें अपने को देखने के लिए ? प्रणेता की महान् आत्मा से Communicate करने के लिए ? हम दिल को ढूंढते हैं या कातिल को ढूंढते हैं ! इसी प्रश्न के उत्तर में इस पुस्तक की रचना हो गई है । आप तो जानते ही हैं कि प्रश्न का भी हाथ उत्तर के स्वरूप पर ही पड़ता है । जैसा प्रश्न, वैसा उत्तर ! उत्तर जो बन पड़ा है, वह यह है कि हम साहित्य जब पढ़ते हैं, तो हमारा उद्देश्य होता है एक दिव्य विभूति-मय आत्मा के सम्पर्क में आना, उसके साथ Communicate करना, यह देखना कि साहित्य के पीछे जो हृदय बोल रहा है, वह कैसा है । साहित्य के माध्यम से हम साहित्यकार को देख सकते हैं । यद्यपि आज इस कला को हम भूलते जा रहे हैं पर जब तक हम इस कला को फिर से प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक, आज के वैज्ञानिक युग में, साहित्य की समस्या सदा खतरे में रहेगी ।

'साहित्य तथा साहित्यकार' आप से यही कहने आया है कि भाई, आज लेखक मरता जा रहा है, निरादृत होता जा रहा है । एक ओर साधारण मानवता उसे निगलने को तैयार है, तो दूसरी ओर विशेषज्ञता उसे गिन-गिनकर सब स्थानों से निकाल रही है । उसकी रक्षा करो । देखो कि वह कहां है, कैसे है, क्या कर रहा है ? तब देखोगे कि वह कितना दिव्य है । तब उसे आपके सामने आने की हिम्मत भी होगी । और जब वह ज्ञान और विज्ञान के रथ पर चढ़ कर आयेगा, तब उसकी आत्मा और भी विराट लगेगी । उसे जरा स्नेह से पुकारो तो ! आदमी, जो मांगता है वही मिलता है । आज साहित्य से आप मांगते हो Information, propoganda और वह मिलता भी है । साहित्य से साहित्यकार को मांगो

तो जरा। 'मोहन मांग्यो आपन रूप।' वह जरूर मिलेगा। वह आपसे दूर नहीं है। जरा सहम कर दुबक गया है। क्या समझते हो कि कालिदास, होमर, शेक्सपियर और दांते यों ही कूद पड़े थे, मान न मान मैं तेरा मेहमान? नहीं, युग ने उन्हें पुकारा था। बिना पुकारे तो भगवान भी गज के पास दौड़े-दौड़े नहीं गये। १६२६, १६३० में कलकत्ते से स्व० श्री ईश्वरी प्रसाद जी शर्मा के सम्पादकत्व में एक हिन्दी साप्ताहिक निकलता था 'हिन्दू पंच।' उसके मुख-पृष्ठ पर लिखा रहता था—

"लज्जा रखने को हिन्दू की, हिन्दू जाति जगाने को।
आया हिन्दू पंच जगत में, हिन्दू धर्म बचाने को॥"

मैं कहूं क्या कि "साहित्य तथा साहित्यकार" भी साहित्यकार को पुकारने के लिए, उसके उद्धार के लिए आया है!

खैर, क्यों आया है यह जानने के लिए दूसरा साधन क्या है कि वह क्या कर रहा है। खाने पर ही तो भोजन का स्वाद मिलता है। सो भोजन करने वाले, अर्थात् इस पुस्तक के पढ़ने वाले ही तो इसका निर्णय कर सकते हैं न! लेखक अपनी ओर से क्या कहे। 'निज कवित्त केहि लाग न नीका।' मैं तो 'मंगलजी' को धन्यवाद दूंगा कि उन्होंने मुझ से यह पुस्तक लिखवा ली और दिन रात प्रूफ रीडिंग में गड़ गड़ कर सजधज के साथ प्रकाशित कर दी। अब मचले हैं कि 'Art of Novel' वाली पुस्तक तैयार कर दूं। देखूं क्या होता है। लिखवा ही लेंगे! इतना और कहना रह गया कि पुस्तक में संगृहीत लेखों में से कुछ, कल्पना तथा आजकल जैसी पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हो चुके हैं।

—देवराज उपाध्याय

अनुक्रम

साहित्य की प्रतिक्रिया

किसी भी रचना के सम्बन्ध में कितने ही तरह के मतभेद हो सकते हैं परन्तु इससे सभी सहमत होंगे कि पाठक पर उसका प्रभाव पड़ता है, उसमें किसी तरह की प्रतिक्रिया जगती है और वह एक विशेष ढंग से प्रतिक्रिया-तत्पर होता है। तुलसी की विनयपत्रिका ने हृदय में प्रेम और भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित कर दी, सूर के भ्रमरगीत ने पाठक को विरह-रस से आर्द्र कर दिया और बिहारी की शृंगारिक फुहारों ने हृदय को महमह कर दिया, भूषण के उद्बोधनों ने डूबते प्राणों में भी वीर रस का संचार किया। तुलसी ने भक्ति-परक कविता की पाठक ने भक्ति के भाव ग्रहण किये, सूर ने शृंगार (विप्रलंभ) का रस-राजत्व दिखलाया, पाठक को विरह रसास्वादन मिला, बिहारी ने शृंगार काव्य लिखा, पाठक को शृंगार रस मिला, भूषण ने युद्ध के गीत गाये, पाठक में वीरत्व के भाव जगे।

इन सब उदाहरणों से हम किस परिणाम पर पहुंचते हैं? यही न, कि जिस तरह का वर्ण्य विषय होगा उसमें अपने अनुरूप प्रतिक्रिया जगाने की शक्ति होगी। अमुक भाँति का विषय अमुक भाँति की प्रतिक्रिया। ठीक उसी तरह से जिस तरह विज्ञान तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में उत्तेजक वस्तु (Stimulus) तथा प्रतिक्रिया (Response) वाला सिद्धान्त काम

करता है । बिल्ली ने चूहे को देखा, झपट पड़ी। यहां चूहा उत्ते-जक पदार्थ का काम करता है झपट पड़ना प्रतिक्रिया है, Response है जो बिल्ली में जागरित होती है । कविता को चूहे के स्थान पर रख लीजिये, पाठक को बिल्ली के स्थान पर। बस, जिस साहित्यिक प्रति-क्रिया के संदर्भ में हम विचार कर रहे हैं वह बात स्पष्ट हो जायगी।

आज का युग यंत्रों का युग है। अधिकांश मानव व्यापार और व्यव-हार यंत्रों के द्वारा परिचालित होते हैं। यंत्र के द्वारा गृह को आलोकित किया जाता है, उसे साफसुथरा किया या बुहारा जाता है। हमारा भोजना-च्छादन, अध्ययनाध्यापन, गमनागमन, आदानप्रदान सब कुछ यंत्राधीन है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य की बुद्धि अथवा मस्तिष्क की प्रक्रिया पर भी यंत्रों का प्रभाव पड़े और वह यंत्रों के संदर्भ में सोचने लगे तो आश्चर्य की बात नहीं। आपने किसी यंत्र में कपड़े डाल दिये, सिला सिलाया तैयार सूट आपके सामने आ गया; मशीन में आप ने लोहे के टुकड़े रखे और बना बनाया लोहे का बर्तन तैयार। तब हम यदि यह सोचने तथा विश्वास करने के लिये तत्पर हो जायें कि युद्ध विरोधी साहित्य अर्थात् उस साहित्य से जिसमें युद्ध का बड़ा ही भयावह चित्रण किया गया हो युद्ध-विरोधी भावों का प्रचार होगा, शान्तिपाठ से शांति उत्पन्न हो, क्रांति से क्रान्ति; प्रेम चित्रण से प्रेम, घृणा से घृणा, तथा ईर्ष्या से ईर्ष्या की उत्पत्ति होगी तो यह अस्वाभाविक ही कहा जा सकता है। मनुष्य को मशीन बना देने की तथा उसे यन्त्रवत् प्रतिक्रिया तत्पर होते देखे जाने की प्रक्रिया कई शताब्दियों से चल रही है। उसे हम Stimulus और response की सीमा में देखने लगे हैं।

पर वास्तव में प्रश्न यह है कि मानव पर क्या इस सस्ते तथा सरल ढंग

से विचार करना भी होगा ? क्या वह इतने सीधे सादे ढंग से परि- चालित होता है कि बटन दबाया और रोशनी जल गई ? यदि एक क्षण के लिए यह मान भी लें कि वह ऐसा ही सीधा सादा तथा भोलाभाला प्राणी है और व्यावहारिक जगत में वह इसी तरह आचरण करता है तब भी प्रश्न यह उठता है कि साहित्यिक जगत में प्रवेश करने पर भी वह साधारण सांसारिक व्यक्ति ही बना रहता है ? क्या साहित्यिक जगत और साधारण संसार में कोई अन्तर नहीं ? व्यक्ति और पाठक एक ही है ? बाजार से सौदा खरीद कर लाने वाले, पेट काट कर एक एक पैसा जोड़ कर बैंक बैलेंस बढाने वाले, ईंट का जवाब पत्थर से देने वाले, और कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' पढ़ने वाले में या महादेवी वर्मा की कविता पर सर धुन धुन कर रोने वाले में कोई अन्तर नहीं ?

इस प्रश्न की ओर हमारा ध्यान हठात् इसलिये भी आकर्षित होता है कि जब हम विश्व साहित्य की अमर तथा प्रभावोत्पादक एवं मानव की भावात्मक सत्ता पर सर्वाधिक अधिकार करने वाली कृतियों को देखते हैं तो पाते हैं कि वे दुखान्त हैं, Tragedies है, उनमें नायक का पतन है मानों प्रकाश पर अन्धकार की विजय हो । हाँ, सुखात्मक कृतियां भी हैं, Comedies भी हैं जिनमें उल्लास के गीत गाये गये हैं, प्रणयोच्छ्वास की कथायें कही गई हैं, हमें गुदगुदाने की चेष्टा की गई है, जीवन के सुखमय तथा उज्ज्वल पक्ष का ही चित्रण किया गया है । पर ये प्रभाव की दृष्टि से उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रही हैं और लोगो के हृदय की गंभीर तृप्ति के साधन बनने का गौरव नहीं प्राप्त कर सकी हैं । यह विरोधा- भास कैसा ? लोगों को कहते तो यही सुना है **'रोपैं पेड़ बबूल का, आम कहां ते होय'** । पर हम बबूल का पेड़ रोपते हैं और उसमें आम का

फल लगता है, वह करुणा जो 'भवभूति' से अधिक मूल्य नहीं रखती उसका उत्तर विश्व की विभूति बन जाता है। जीवन की जुगुप्सा साहित्य में आकर रस का उद्रेक करने वाली किस तरह हो जाती है ?

इस प्रश्न पर इस ढंग से विचार कीजिये। हमें युद्ध-विरोधी साहित्य का प्रणयन करना है। हम चाहते हैं कि किसी ऐसी कहानी की रचना करें या कविता लिखें जिसे पढ़ कर पाठक में युद्ध के प्रति घृणा उत्पन्न हो और लोग अपनी मनोवृत्तियों को विश्वशान्ति की ओर केन्द्रित करें। हमें क्या करना चाहिये ? अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये क्या यह ठीक होगा कि युद्ध की विभीषिका का उग्र वर्णन उपस्थित किया जाय ? इसके द्वारा जो जन धन की अपार क्षति होती है उसका भयावह चित्रण किया जाय ? हिरोशिमा तथा नागासाकी का जीता जागता चित्र खींचकर रख दिया जाए ? क्या ऐसा करने से हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे ? युद्ध का दूसरा पक्ष भी होता है। युद्ध के कारण हमारे अन्दर प्रसुप्त वीरत्व के भाव जाग पड़ते हैं, देश, जाति, राष्ट्र तथा किसी सिद्धान्त के लिये सर्वस्व की आहुति कर देने की प्रवृत्ति भी जागृत होती है, संगठन में दृढ़ता आती है, एकता की भावना बढ़ती है, हम अनुशासन का महत्त्व सीखते हैं। इस रूप को भी अपने वर्णन में स्थान दिया जाय तो क्या पाठक में युद्ध के प्रति आकर्षित होने तथा उसमें युद्धप्रियता के भाव उत्पन्न होने की सम्भावना है ? युद्ध का मानवीय वर्णन क्या पाठकों में युयुत्सा के भाव उत्पन्न करेगा ?

इसका दो टूक उत्तर देना कठिन है। पर यदि कोई यह कहता है कि युद्ध के दुर्धर्ष तथा लोमहर्षक वर्णन से युद्ध के प्रति आसक्ति के भाव

उत्पन्न होनेकी आशंका है तो हम उसमें निहित सच्चाई के प्रति उदासीन नहीं हो सकते । यह बात युद्ध ही के लिए नहीं, सब तरह के भावों के लिए लागू हो सकती है । कम से कम यह तो सही ही है कि किसी भी विषय की भीषणता, कष्टप्रदायकता तथा पीडोत्पादकता में नैसर्गिक रूप से तद्विरोधत्व या तद्बाधकत्व रहता है इस सिद्धांत को ठीक मानने में कई तरह की अड़चनें हो सकती हैं ।

पहली बात तो यही है कष्ट और पीडायें पाठक के हृदय में वीरता के भावों के लिए आधार प्रस्तुत कर सकती हैं । यह साधारण सी बात है कि वीरगण अपने उद्देश की सिद्धि के लिए बड़े से बड़े बलिदान के लिए तैयार रहते हैं, कठिन से कठिन परिस्थितियों का सामना करते हैं, देश भक्ति के उन्माद में हमने स्वयंसेवकों को पुलिस की संगीनों को हंसते-हंसते छाती पर लेते देखा है । अर्थात् समीकरण यह हुआ कि जितना ही अधिक कष्ट, बलिदान, पीड़ा उतनी ही बड़ी वीरजयमाला । वीर को कष्ट सहना पड़ता है इस सिद्धान्त से जरा सा खिसक कर इस सिद्धांत पर आ जाना कठिन नहीं कि जो कष्ट सहता है वह वीर है । अतः वीर कष्ट से डरे क्यों ? ठीक है, युद्ध में कष्ट उठाना पड़ता है, जन धन संहार होता है, नगर के नगर उजाड़ हो जाते हैं । तो इससे क्या ? इश्क में लाखों हजारों बस्तियां फुंक जाती हैं, आशिक शायद ही कभी फूलता फलता हो पर इससे क्या वह अपने प्रेमपथ से विचलित होगा ? नहीं

मैं एक सच्ची घटना बताऊं । मैं बहुत ही कायर व्यक्ति हूं । मैं सदा यही सोचता हूं कि यदि विपत्तियां सामने आकर खड़ी हो जायं तो क्या करूंगा ? दुम दबा कर भाग जाऊंगा या डट कर उसका सामना करूंगा ?

मैं जब कांग्रेस में काम करता था और कभी-कभी जब सरकार-विरोधी भाषण देता था तो यही सोचता था कि पुलिस गोली चलाने लगे तो क्या होगा ? इसी तरह की दोलायमान चित्तवृति में मैंने अपने एक आर्य-समाजी और कांग्रेसी मित्र से अपनी बात कही और पूछा कि कृपया बतलाइये, कि इस परिस्थिति में आपकी प्रतिक्रिया क्या होगी ? उत्तर में उन्होंने जो कहा वह आज भी मेरे कानों में गूंज रहा है। उन्होंने कहा कि जब तक विपत्ति नहीं आई रहती है, पुलिस की बन्दूक नहीं उठी रहती है तब तक तो चित्त जरा चंचल रहता है जरूर, पर जब भय की सामग्री सामने आ खड़ी होती है तो चित्त स्थिर हो जाता है, उस समय कोई विकल्प नहीं रह जाता। बस, भय के मुख को पकड़ने की ही बात रह जाती है।

इन बातों को जब मैं आज अपने स्मृति-पटल पर लाता हूं तो दो कवितायें बरबस याद आ जाती हैं—एक संस्कृत का श्लोक और दूसरा उर्दू का एक शेर। संस्कृत का श्लोक यों है—

> तावद्भयस्य भेतव्यं यावद् भयमनागतम्
> आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्यात् यथोचितम्।

दूसरा उर्दू का शेर है—

> रग-रग तड़प रहा है नया रंग देख कर
> कातिल भी है, छुरी भी है, मेरा गला भी है।

बातें तो और भी याद आती हैं जिनमें एक यह भी है कि जब खुदी-राम बोस फांसी के तख्ते पर चढ़ रहे थे तो प्रसन्नता के कारण उनके शरीर के भार में अभिवृद्धि हो गई थी।

इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत समस्या पर विचार करें तो क्या ऐसा अनु-मान नहीं होता कि मनुष्य में कष्ट सहने की, दुःख से उलझने की, दुख को पछाड़ कर विजय सुखानुभूति प्राप्त करने की नैसर्गिक आकांक्षा होती है और वह अपना भोजन मांगती है ? क्या शिवजी हलाहल को प्रसन्नता-पूर्वक नहीं पी जाते हैं, गले में सर्पों तथा कबन्धों की माला धारण करके आनन्दित नहीं होते हैं, श्मशान भूमि में रुण्ड मुण्डों से क्रीडा नहीं करते एवं ताण्डव कर प्रलयंकर नहीं बन जाते ? तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि किसी वस्तु का भयावह चित्रण कर, उसकी विभीषिका दिखला कर, रक्त की नदियां बहा कर हम पाठक के हृदय में भय का संचार कर देंगे, उसके हृदय में घृणा, विराग के भाव उत्पन्न कर देंगे। ऐसा भी मान लेने के लिए पर्याप्त अवसर हैं कि जिस विभीषका को खून में रंग कर हम लाल कर रहे हैं वह इतना चमक उठे कि उसमें रस पड़ जाय और आपको वह अपनी ओर खींचने लगे।

इस पहलू पर विस्तार पूर्वक तो एक क्षण बाद विचार होगा पर इस दृष्टि से भी क्यों न सोचें कि किसी विषय का अति चित्रण, **रसस्य युक्तिः पुनः पुनः** मानसिक कुण्ठा भी उत्पन्न कर सकती है, बुद्धि की धार को भोथर भी कर सकती है। मानस की वह दशा कर दे सकती है कि वह वर्णित विषय के प्रति उदासीन हो जाय और उसके प्रति किसी प्रकार का क्रिया–तत्परत्व उसमें आ ही नहीं सके। उदाहरण के लिए अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार टामस हार्डी के प्रसिद्ध उपन्यास Tess of the D' Urbervilles को लीजिये। टेस पर मानों खुदा की मार है। वह जन्मजात अभागिन है। जहाँ कहीं भी जाती है वहाँ उसका दुर्भाग्य पीछा करता है। ऐसा लगता है कि नियति ने उसे इसीलिए ही निर्मित किया है कि उसके

साथ दारुण तथा लोमहर्षक खेल—खेला जाय। हम एक बार देखते हैं कि वह विपत्तियों का शिकार हुई, हमें उसके साथ सहानुभूति होती है। पर जब हम बार बार उसे विपत्तियों में पड़ते देखते हैं, उसने सुवर्ण का स्पर्श किया नहीं कि मिट्टी बन गया, तब हममें एक मनोवैज्ञानिक औदासीन्य (Psychological Callus) आ जाता है। हम कहां तक सहानुभूति दें। यदि वह इसी के लिए बनी है तो हम क्या करें ऐसी मनोवृत्ति हो जाती है। एक बार भी भाग्य ने टेस का साथ दिया होता तो बात भी थी।

जैनेन्द्र ने 'त्याग पत्र' किसी की डायरी हाथ लग जाने की बात कही और विश्वास दिलाया कि उसी डायरी को जरा सम्पादित कर वे प्रकाशित कर रहे हैं तो बात समझ में आई और पाठकों ने उसे सत्य समझ कर उस पर विश्वास भी किया। पर बार बार जब वही बात होने लगी, कल्याणी में भी वही बात, यहां तक कि आगे जयवर्धन में भी वही बात, तो पाठकों के लिए इस भ्रम के जाल को तोड़ना सहज हो गया और अब उनमें इस तरह के कौशल के प्रति उदासीनता आ गई।

मान लीजिये कि कोई कवि एक युद्ध विरोधी अथवा पूँजीवाद विरोधी महाकाव्य लिख रहा है। यह निश्चित है कि उसे बाध्य होकर युद्ध की दारुणता, महानाश, प्रलयंकरता का अतिमात्रिक चित्रण करना ही पड़ेगा। वह इससे पीछा छुडा ही कैसे सकता है जब वह इसीके लिए प्रतिश्रुत है। पूँजीवादी शोषण के भयानक दृश्यों का चित्रण करना ही पड़ेगा। लेखक के बावजूद भी उसकी कलात्मक प्रतिभा का एक बृहद भाग दूसरी ओर प्रेरित होगा। जब ऐसी बात अनिवार्य है तो यह

भी सही है कि उस वर्णन में एक शक्ति होगी, आकर्षण होगा, उसमें अपील होगी, वह आमन्त्रित करता सा जान पड़ेगा और पाठक के हृदय में वह भाव जगेगा जिसे भयंकरता के प्रति मोह (Fascination for ugliness) कह सकते हैं। हमने देखा है कि सांप कितने भयंकर होते पर उनके व्यवहार से ऐसा भी लगता है कि उनकी भयंकरता में पक्षियों को सम्मोहित करने की शक्ति भी होती है। दीपक की लौ कितनी गर्म होती है, जला देने वाली होती है पर उसमें सम्मोहन भी होता है जो परवानों को अपनी आहुति कर देने के लिए प्रेरित करता है।

साहित्य के क्षेत्र में ऐसी घटनायें न घटी हों सो भी बात नहीं। मिल्टन के पाठकों से यह बात छिपी नहीं है कि वे साहित्य के द्वारा, विशेषतः Paradise lost तथा Paradise Regained के द्वारा शैतान पर धार्म्मिकता की विजय का निर्घोष करना चाहते थे पर साहित्य में कुछ ऐसी रहस्यमयी क्रिया हुई है कि शैतान अपनी शैतानियत की विकरालता एवं दुर्घषता के साथ, बल्कि उसीके कारण, आकर्षक बन बैठा है। कौन नहीं जानता कि शैक्सपियर ने शाइलक को कितना गिराना चाहा है, कितनी गहरी काली स्याही उस पर पोतनी चाही है पर यह जो शाइलक है, वह शैक्सपियर के चंगुल से किसी न किसी प्रकार निकल कर पाठक की सहानुभूति पर अधिकार करने लगा है। विद्यार्थियों को न जाने कितनी बार इस प्रश्न का उत्तर देना पड़ा होगा कि Shylock was more sinned against than sinning अर्थात् शाइलक उतना अपराधी नहीं जितना कि उसके विरुद्ध अपराध किया गया है।

प्रेमचन्द **गोदान** में अपनी सारी सहानुभूति **होरी** को देना चाहते थे

पर बात कुछ ऐसी हुई कि **मालती** का चित्रण अधिक सरस हो उठा **और** वह चोरी–चोरी दबे पांव आकर पाठक की सहानुभूति की अधिकारिणी हो उठी। चूंकि **मालती** जिस अधिकार का दावा पेश करती है उसमें एक कौशल है, सफाई है, तर्जे अदा है, अतः उसमें व्यंग्य या ध्वनि का मज़ा है। **होरी** में वाच्यार्थ है तो **मालती** में व्यंग्यार्थ है। **मालती** अपने अधिकार को व्यंग्यत्व की दशा तक पहुंचा देती है, **होरी** में तो ज्यादा गुणीभूत व्यंग्य ही है। **मालती** अधिकार के लिए लड़ती तो है पर हाथ में तलवार नहीं लेती है इसीलिए इसकी सादगी पर मर जाने की इच्छा हो जाती है। **होरी** तो शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित हो प्रेमचंद के नेतृत्व में सेना लेकर हमारे हृदय की सहानुभूति पर धावा बोलता है।

मनुष्य के स्वभाव में ही विरोधाभास रहता है। उसके भीतर सदा ही दो विरोधी प्रवृत्तियों में संघर्ष चला करता है। वह जिसे प्यार करता है उसके प्रति घृणा के भाव भी उसमें कहीं न कहीं पलते रहते हैं। वह आंखों में आंसू भर कर हंसता है और खिल–खिल कर रोता है। इस विरोधाभास को हम एक भूल, गलती, त्रुटि या दोष कह कर हो सन्तोष नहीं कर ले सकते। यह उसकी जैविक अनिवार्यता है, Biological necessity है। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जिस तरह से उन्हें निसर्ग से अन्य प्रवृत्तियां मिली हैं, उसी तरह यह भी उनमें से एक है।

यही देखिये न। प्रकृति ने हमें उन सब साधनों से सम्पन्न किया है जिनसे हम सुरक्षित रह सकें, सर्वप्रयोजनमौलिभूत आनन्द को प्राप्त कर सकें, शिशिर ऋतु में भी बिस्तर पर पड़े–पड़े लिहाफ की गरमाई का मजा ले सकें। पांच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ सब हमारे सुखसम्पादन में सहा-

यता देने के लिए प्रस्तुत हैं। ये हमारे लिए वरदान-स्वरूप हैं। पर प्रकारान्त से अभिशाप भी हैं। कारण कि इनका अस्तित्व ही इस बात का प्रमाण है कि इन साधानों के प्रयोग के लिए क्षेत्र चाहिये। इसका अर्थ यह होता है कि इन साधनों के चलते ही, इन्हीं के कारण ही हमारे अन्दर एक संघर्ष, युद्ध, छटपट, त्वरा,यह कर,वह कर सदा चलता रहेगा। जब तक यह हलचल बनी रहेगी तब तक हमें कहाँ शांनि, कहाँ चैन की साँस। भूत तो हमारे बस में हो गया है अवश्य और वह ऐसा शक्ति सम्पन्न है कि हमारे मुंह से कोई आज्ञा निकली नहीं कि उसने पूरी कर के दिखला दी। पर उसे तो काम चाहिये। काम नहीं होगा, वह व्यस्त नहीं रहेगा तो व्यक्ति को ही खायेगा। अतः कम से कम उसे काम देने की, व्यस्त रखने की ही चिंता हमें खाती रहेगी। कहाँ हमने भूत को इस-लिए बस में किया था कि हमें सुख होगा पर वही दुख का कारण हो गया। यही मानव है और उसका जीवन विरोधों का पुंज !!

हम उन विरोधों में से किसी को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देख सकते। ये विरोध हमारे जीवन के मूलाधार है, इनमें से हम किसी को छोड़ नहीं सकते। और यदि इन्हें जीवन में नहीं छोड़ सकते तो साहित्य में ही कैसे छोड़ सकते हैं, जो जीवन के प्रतिनिधित्व करने का दावा करता है।

तब साहित्यिक क्या करे ? यदि युग के श्यामल, ध्वंशकारी, जुगुप्सा-जनक चित्रण उपस्थित करने से उसके प्रति अनुराग होने तथा पाठक में युद्ध मनोवृत्ति के उत्पन्न होने की सम्भावमा है तो क्या यह भी सम्भव है कि युद्ध के प्रति नये दृष्टिकोण रखने अर्थात् उसके कोमल चित्र खींचने से, उसके दिव्य तथा उन्नत पहलू दिखलाने से, उसके गुणानुवाद करने से

युद्ध के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो और हमें शांति के उपासक होने में सहायता मिले। यदि युद्ध के मानवीय पक्ष को दिखलाया जाय, युद्ध जन्य परि- स्थितियों के कारण पारस्परिक संगठन की भावना का विकास दिखलाया जाय, कष्टसहिष्णुता की अभिवृद्धि की बात कही जाय, आत्मशक्ति और पौरुष का चमत्कार दिखलाया जाय तो पाठक पर कैसा प्रभाव पड़े ?

जो हो, इतना अवश्य है। ऐसे साहित्य के द्वारा युद्ध जैसे दुर्द्धर्ष तथा भयंकर वस्तु के प्रति भी एक शांतिमय दृष्टिकोण से देखने की प्रवृत्ति जगेगी। हम युद्ध को भी सांस्कृतिक दृष्टि से देखना सीखेंगे। इस सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विकास बहुत ही महत्वपूर्ण बात है। हम युद्ध के वातावरण में भी शांति की झलक पायेंगे मानों अंधकार में प्रकाश की रेखा चमक रही हो। और जब अंधकार में प्रकाश की रेखा चमकेगी तब वह प्रकाश की बाढ़ में छिप जाने वाली रेखा से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक होगी। हम में आलोचनात्मक मूल्यांकन के भाव जगेंगे और साथ ही हृदय में इस बात की ध्वनि जगेगी कि मानवता की सच्ची सेवा शांति के साधनों से ही होगी युद्ध के उपादानों से नहीं।

शांति यदि युद्ध से श्रेष्ठ है, उच्चतर है, अधिक वांछनीय है तो इसका सब से अधिक प्रामाणिक आधार इसी बात से दे सकते हैं कि इस युद्ध के प्रति भी हमारा दृष्टिकोण शांतिपूर्ण है, विद्वेषयुक्त या घृणा-पूर्ण नहीं। बिच्छू डंक मारता जाय, पर साधु उसकी रक्षा से मुख नहीं मोड़ेगा। इस तरह साधुता को डंका पर विजय प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। कम से कम साधुता का स्वरूप तो निखर कर सामने आयेगा। यदि बिच्छू के डंक की चोट लगते ही साधु भी बिच्छू के डंक को तोड़ने

के लिए तत्पर हो जाय तो कहां गई साधुता । बिच्छू डंक-हीन होने से भले रह जाय पर साधु की साधुता की भद्द तो उड़ ही जायेगी ।

इस सम्बन्ध में एक विचारक की उक्ति बड़ी ही उपयोगी है Let the war be put forward as a cultural way of life, as one channel of effort in which people can be profoundly human and you induce in the reader the fullest possible response to war, precisely such a response as might best lead one to appreciate the preferable ways of peace. अर्थात् आप एक काम करें । युद्ध का वर्णन इस ढंग से करें मानों वह हमारे सांस्कृतिक जीवन का अंग हो, एक ऐसा व्यापार हो जिसमें मानवीय गुणों का अधिकाधिक विकास करने का अवसर मिले । परिणाम यह होगा कि मनुष्य में युद्ध के प्रति पूर्ण प्रतिक्रियातत्परत्व जगेगा । और वह प्रतिक्रिया ऐसी होगी जो मनुष्य में जीवन के शांति मय उपायों के प्रति अभिरुचि जागृत करेगी ।

साहित्यिक प्रतिक्रिया के इस पहलू पर विचार करते समय अर्थात् युद्ध या किसी भी विषय पर सांस्कृतिक दृष्टिकोण अथवा मानवके नैस-र्गिक विरोधाभास की बात करते समय वर्डस्वर्थ के विचार याद हो जाते हैं जो उसने कविता और छन्द के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रगट किये हैं । उसका कथन है कि काव्य का ध्येय ऐसी उत्तेजना उत्पन्न करना है जिसमें आनन्द का पुट अत्यधिक है । पर उत्तेजना तो मानस की असाधारण या विषम अवस्था मानी जाती है । इस अवस्था में विचार और भाव किसी प्रशस्त मार्ग का अनुसरण नहीं करते । यदि उत्तेजना

को उद्दीप्त करने वाले अति सशक्त चित्रों एवं भावों के कारण अनुपात से अधिक वेदना का पुट आ गया तब इस बात का भय है कि उत्तेजना का रूप अपनी उचित सीमा को लांघ जाय। परन्तु यदि वहां कुछ ऐसी चीज का समानाधिकरणत्व हो जो नियमित है, जिससे मानस की विविध अवस्थायें कम उत्तेजना के अवसरों पर परिचित हैं तो इसका अच्छा प्रभाव पड़ेगा। परिणाम यह होगा कि साधारण भावों के मिश्रण के कारण उत्तेजना से असम्पर्कित भावों के कारण उत्तेजना संयमित होगी, यह निर्विवाद सत्य है। अतः यद्यपि ऊपरी तौर से देखने पर यह विरोधाभास सा भले ही मालूम पड़े पर इसमें किसी भी तरह की शंका की गुंजाइश नहीं कि छंद के कारण भाषा की वास्तविकता कुछ अंश में मुड जाती है और सारी रचना के ऊपर वास्तविक सत्ता की अर्द्धचेतना छा जाती है तथा अधिक कारुणिक अवस्थायें और भावनायें जिनमें वेदना का अंश ज्यादा है वें छन्दोबद्ध विशेषतः तुकान्त काव्य में गद्य से अधिक सहनीय हो सकती हैं।

साहित्य और समाजवादी दृष्टिकोण

कल की विचार गोष्ठी में अनेक वक्ताओं ने साहित्य और सामयिकता पर भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से अपने विचार उपस्थित किये, साहित्य के अनेक पहलुओं पर अपने मत प्रगट किये। विशेषतः, साहित्य को समाजवादी दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा की गई और यह कहा गया कि साहित्य को अपने समय का प्रतिनिधित्व करना चाहिए, उसकी समस्याओं से जूझना चाहिए तथा उन्हें सुलझाने में मानवता की सहायता करनी चाहिए। हम उस रचना को साहित्य का गौरव नहीं दे सकते जिसमें समाज को उन्नति-पथ की ओर अग्रसर करने वाले तत्व वर्त्तमान नहीं हों। जो साहित्य हमें अपनी समस्याओं को ठीक तरह से समझने और बूझने की शक्ति नहीं देता है वह अपने कर्त्तव्य का पालन ठीक तरह से नहीं करता। यह समाजवादी दृष्टिकोण है, जिसमें व्यक्ति से अधिक समाज को महत्त्व दिया जाता है। इस दृष्टिकोण के सम्बन्ध में मुझे कुछ कहना नहीं है। इस दृष्टिकोण से भी लोगों ने साहित्य को देखा और परखा है और बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं।

परन्तु मेरी दृष्टि में इस तरह से किसी कलात्मक वस्तु अथवा साहि-

त्यिक रचना पर विचार करना समीचीन नहीं है। साहित्य अभिव्यक्ति है और अभिव्यक्ति में व्यक्ति की स्वतन्त्रता की घोषणा होती है। जब जब मनुष्य के अन्दर अभिव्यक्ति की प्रेरणा होती है तब-तब वह सब के ऊपर अपनी ही सत्ता का उद्घोष करता है। इसलिए अन्तिम विश्लेषण में साहित्य व्यक्ति की ही अभिव्यक्ति हो जाता है। यहाँ पर अभिव्यक्ति शब्द पर ही हमें ध्यान देना चाहिए इसमें दो शब्द हैं अभि और व्यक्ति। अभि उपसर्ग का जो भी अर्थ हो परन्तु इस पूरे यौगिक शब्द से व्यक्ति की ही प्रधानता निश्चित होती है। आप एक अंकुर की कल्पना कीजिए जो पत्थर की छाती फाड़ कर निकल पड़ता है। पत्थर के सामने एक कोमल अंकुर की क्या हस्ती है? पत्थर चाहे तो एक क्षण में उसे मसल कर चकना-चूर कर दे सकता है लेकिन फिर भी अंकुर निकल कर ही रहता है।

इसी तरह मानव शरीर, मस्तिष्क तथा हृदय के किसी कोने में व्यक्तित्व का बीज, सार–तत्व छिपा पड़ा रहता है, सब ओर से निरादृत। यह कोई आवश्यक नहीं कि वह सदा निरादृत और उपेक्षित ही हो। कभी कभी ऐसा भी होता है कि समाज के द्वारा उसे मान्यता भी प्राप्त हो। यदि ऐसा होता है तो उसी समय एक महान् कला का सृजन होता है। परन्तु प्रायः मनुष्य के व्यक्तित्व को निरादृत तथा उपेक्षित होने का ही गौरव प्राप्त होता है। इस निरादर और उपेक्षा की ठोकर से एक चिनगारी निकलती है। वही साहित्य का पूर्व रूप है। साहित्य में साहित्य कार का व्यक्तित्व बोलता है और वह सारी विघ्नबाधाओं को ललकारता सा दीख पड़ता है।

खैर, यह बात एक क्षण के लिए अलग अलग भी रखी जाय अर्थात्

साहित्य में व्यक्ति की अभिव्यक्ति होती है या समाज की इस प्रश्न को फिलहाल स्थगित भी कर दिया जाय तो प्रश्न यह उपस्थित होगा कि जिसे हम उन्नति कहते हैं या पतन कहते हैं वह क्या चीज है ? उसका सच्चा स्वरूप क्या है ? कौन सी ऐसी कसौटी है जिसके आधार पर कहें कि अमुक पद्धति से अमुक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला साहित्य उन्ना-यक है और इससे विपरीत रहने वाला साहित्य पतन की ओर ले जाने वाला है। कल किसी ने अपने भाषण के मध्य में कहा कि उपाध्याय जी का दृष्टिकोण तो संतों का है–**'रपट जा जा के लोगों ने लिखा दी जाके थाने में, कि अकबर नाम लेता है खुदा का इस जमाने में'**। पहले तो यही बात विवादास्पद है कि हमारे देश के सांस्कृतिक उत्थान में संतों ने क्या योग दिया ? कबीर ने, तुलसी ने या सूर ने मानवता की अधिक सेवा की अथवा गांधी, नेहरू या लेनिन–स्टालिन ने, अथवा डांगे ने या नम्बूद्रीपाद की सरकार ने ? इसका निर्णय भविष्य का इतिहास करेगा।

दूसरी बात यह कि जब तक दुनियां का अन्त न हो जाय और उसके अन्त होने के बाद लेखा जोखा लेने के लिए कोई बाकी न रहे तब तक यह कैसे कहा जाय कि अमुक विचारक के अमुक सिद्धान्त ने विश्व की सर्वाधिक सेवा की है। नैयायिकों ने सिद्धान्त तो बना दिया कि **'यत्र-तत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः'** और यह लोग मानते भी हैं। फिर भी इस सिद्धान्त में कुछ आशंका की गुंजाइश है और लोगों ने इसकी सार्वभौमता और सार्वकालिकता में शंका भी प्रकट की है। उनका कहना है कि जब तक संसार के सब स्थानों और सब समयों–भूत भविष्य और वर्त्तमान–में धूम और अग्नि का साहचर्य न देख लिया जाय तब तक धूम से अग्नि का अनुमान कैसे सम्भव है ? और यह बात एक तरह से असम्भव है कि

आदमी सार्वकालिक और सार्वभौम हो सके। उसी तरह किसी साहित्य के द्वारा समाज की उन्नति का बतलाया गया मन्त्र अन्त में चल कर समाज के लिए हित कर ही होगा इसका कौन दावा कर सकेगा ?

१८ वीं शताब्दी में वाल्टेयर और रूसो ने समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुता का नारा बुलन्द किया परन्तु इतिहास साक्षी है कि उन नारों से विश्व की कोई विशेष सेवा नहीं हो सकी। क्रान्ति रक्त की धारा में बह गई और जाकर कोठेशाही में छिप गई।

मैं बहुत से ऐसे आदमियों को जानता हूं जो जीवन भर लोगों की निन्दा के पात्र रहे, लोगों ने उन्हे समाज का शत्रु समझा और उन्हें भांति भांति की यन्त्रणाओं के द्वारा पीड़ित करने की चेष्टा की पर अन्तिम समय में मरने के पहले वे ऐसा काम कर गये कि उनके विषय में मनुष्य की भावनाओं में भयानक क्रान्ति हुई, लोगों ने अकचका कर देखा कि अरे जिसे हमने शत्रु समझा था वह तो हमारा परम मित्र था और उसके हृदय में हमारे लिए दूध की धारा ही बहती रहती थी। दूसरी ओर ऐसे आदमियों के भी उदाहरण हैं जो जीवन भर मानवता के हितैषी समझे जाते रहे, समाज सेवियों में उनकी गणना होती रही परन्तु मरने के बाद लोगों ने देखा कि वह तो समाज का पक्का शत्रु था। इसलिए कहता हूं कि साहित्य जैसी जटिल वस्तु पर झट से कोई फतवा दे देना ठीक नहीं।

साधारणतः लोगों का विचार यह है कि साहित्य में समाज का –तात्कालिक समाज का–प्रतिविम्ब पड़ता है और नहीं पड़ता है तो पड़ना ही चाहिए। आगे बढ़ कर यह दृष्टिकोण यथार्थवादी दृष्टिकोण से मिल कर एक हो जाता है–वह यथार्थवादी दृष्टिकोण जो साहित्यकार

के व्यक्तिगत जीवन और उसकी रचना को एक कर के देखने की सिफारिश करता है। उसका कहना है कि व्यक्ति के जीवन में जो घटना घटती है उसी की झलक उसके साहित्य में मिलती है। वे लोग साहित्य पर बहुत सस्ते ढंग से विचार करते हैं वे समस्या को Over-simplify करके देखते है। मैं इस तरह के Over simplification का सख्त विरोध करता हूं। "हम, उन सब किताबों को काबिले जब्ती समझते हैं, जिन्हें पढ़-पढ़ के बेटे बाप को खफ्ती समझते हैं" इसी तरह जो दृष्टिकोण साहित्य को सामयिकता अथवा यथार्थवादिता या किसी सिद्धान्त के सीधे सादे फार्मुला के आधार पर काट-छांट कर रख देता है उसे हम बहुत गौरव नहीं देते।

मैं साहित्य सृजन तथा स्वप्न निर्माण को एक नहीं समझता। दोनों भिन्न-भिन्न कोटि की चीजें हैं। परन्तु दोनों की प्रक्रिया में कुछ समानता अवश्य है। जीवन की वास्तविक घटनाओं के आधार पर ही स्वप्नों का निर्माण होता है और साहित्य में भी लेखक की व्यक्तिगत घटनाओं का प्रभाव हो सकता है। परन्तु स्वप्न जिस रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं वह वास्तव से इतना परिवर्तित हो जाता है कि मूलोद्गम से उसका बहुत ही कम सम्बन्ध रह जाता है और उस मूल से वह गुणात्मक रूप से परिवर्तित नजर आता है।

एक उदाहरण लीजिए। एक नवयुवक फेरीवाले ने किसी गृहिणी को गोभी के सड़े फूल दिये। वह गृहिणी इस तरह ठगी जाने के करण बहुत असन्तुष्ट है। अब स्वप्न में वह बालक फेरीवाला एक भीमकाय व्यक्ति के रूप में उपस्थित होगा जिसकी लम्बी-लम्बी दाढ़ी और मूछें हों।

यह भी सम्भव है कि इस घटना के कारण उस गृहिणी के मानस का वह तंत्र झंकृत हुआ हो जिसे इल्कट्रा ग्रन्थि कहते हैं। यह ठगी हुई नारी स्वप्न में बालिका बन जा सकती है और अपने जन्म स्थान पर लौट कर अपने पिता को क्रोधावेश में तकिये से बार-बार मारने लग जा सकती है। अब यह सोचने की बात है कि फेरीवाल के द्वारा ठगी हुई नारी तथा अपने पिता को बार-बार तकिये अथवा झाड़ू से मारने वाली बालिका में कितना अन्तर है ?

इसी तरह सम्भव है कि किसी साहित्यिक रचना के निर्माण में थोड़ा सा हाथ जीवन की व्यक्तिगत घटनाओं का भी हो परन्तु साहित्य में आते आते उनके स्वरूप मे इतना क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाता है कि मूल का पता लगा लेना कठिन है और ऐसा करना खतरे से खाली भी नहीं है। प्रेमचन्द ने कह तो दिया कि **सूरदास** की कल्पना उन्हें एक अन्धे भिखारी को देखकर मिली थी। परन्तु इतने मात्र से ही **रङ्गभूमि** की रचना नहीं हो सकती। **रंगभूमि** की रचना के लिए प्रेमचन्द की कल्पना, उनकी अनुभूति तथा उनके जीवन के सार तत्व के रसायन को इस तरह सक्रिय होना होगा कि वह घटना अपने सत्स्वरूप का त्याग कर आत्म-विसर्जन कर देती है और शुद्ध काल्पनिक रूप में उपस्थित होती है। अतः इस काल्पनिक अनुभूति को ही साहित्य का मूलतत्व समझना चाहिये। आत्मानुभूति जब तक साहित्यानुभूति अथवा काव्यानुभूति का रूप धारण नहीं कर लेती तब तक साहित्य सृजन नहीं हो सकता।

हिन्दी साहित्य में तो नहीं परन्तु अंग्रेजी साहित्य के कथाकार हेनरी जेम्स ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि उपन्यासों के बीज

उन्हें कहाँ से मिले और वे बीज किन किन परिस्थितियों में कहाँ कहाँ से रस खींचते हुए उपन्यास रूपी वृक्ष का रूप धारण कर सके। अपने उपन्यास Spoils of Poynton के मूल उद्गम को उन्होंने बतलाया है कि एक बार वे किसी पार्टी में सम्मिलित हुए। वहाँ पर एक मित्र ने वार्तालाप के सिलसिले में एक घटना का उल्लेख किया। एक मां है और उसका इकलौता पुत्र है। मां अपने पुत्र को बहुत प्यार करती थी और पुत्र भी माता के प्रति सश्रद्ध है। उसके पिता की मृत्यु सन्निकट है। पिता के पास कुछ बहुत ही मूल्यवान फर्नीचर है। अब इसी फर्नीचर के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर मां और पुत्र में इतना वैमनस्य बढ़ गया है कि आज वे एक दूसरे के जानी दुश्मन हैं। बात इतनी सी ही थी पर इसी ने किसी रहस्यमय ढंग से व्यक्तित्व के उस स्तर को छू दिया जहाँ से सृजन की क्रिया प्रारम्भ होती है और एक उपन्यास की रचना हो गयी। पर उस उपन्यास के पाठक जानते हैं कि उपन्यास की शाखाओं और प्रशाखाओं की जटिल संकुलता में से इस मूलतत्व को पा लेना कठिन हैं। उसकी कोई सार्थकता भी नहीं।

मैंने कभी एक चित्र देखा था। वह चित्र एक वृक्ष का था उस चित्र के नीचे लिखा था कि इस वृक्ष में एक बन्दर छिपकर बैठा है, खोज निकालिये। सच कहता हूं कि मैंने बहुत ही कोशिश की पर उस बन्दर का पता नहीं चल सका। बन्दर वहाँ पर हो, हो, न हो, न हो, इससे क्या ? हमें तो वृक्ष से काम है और उसका सौंदर्य अपने पूर्ण गौरव से मेरे सामने उपस्थित था।

साहित्य का काम ! बहुतों ने कहा है, सुधार करना है, हमारा मार्ग

प्रदर्शन करना है, उसे प्रशस्त करना है। मेरा विचार है कि ऐसा कहना लक्ष्य से ऊपर नीचे या दूर निशाना लगाना है। साहित्य का काम सुधार करना नहीं है, पर व्यक्ति को सुधार करने योग्य बनाना है। कल्पना कीजिये कि लोहे से किसी पात्र का निर्माण करना है। यों लोहा तो बहुत ही कड़ा होता, उसे मोड़ना आसान नहीं है, उसे लाल करना पड़ता है, तब उसे मोड़ कर हथौड़े की चोट से इच्छित वस्तु का निर्माण किया जा सकता है। अतः सब से प्राथमिक महत्त्व की बात यह है कि लोहे में पात्र के रूप में ढल जाने की योग्यता लाई जाय, उसे लाल किया जाय और उसे लचीला बनाया जाय। साहित्य का काम भी यही है। वह लोहे को लचीला बना देता है, यह हृदय के काठिन्य को दूर कर उसे सरल बना देता है। अब आवें सुधारक, राजनीतिक नेता, धार्मिक उपदेशक, अपना काम करें। लोहा लाल है, पाठक का हृदय तरल हो गया है, वह बाहरी छाप को ग्रहण करने के मूड में है, जिस रूप में चाहें उसे मोड़ें।

साहित्य ने उनके लिये ज़मीन तैयार कर दी है। यह सम्भव है कि सृजन और सुधार दोनों साथ ही साथ चलते हों। प्रायः ऐसा होता भी है। पर जब ऐसा होता है तो साहित्यकार वहाँ एक पग आगे बढ़ कर सुधारक का काम करने लगता है। मनुष्य के व्यक्तित्व की कितनी तहें होती हैं? मेरे ही कितने रूप है! मैं पिता हूं, पुत्र हूं, प्रोफेसर हूं और आज यहाँ भाषण भी दे रहा हूं। ये सब व्यक्तित्व अलग अलग हैं। साथ भी रह सकते हैं। उदाहरणार्थ मैं यहाँ भाषण दे रहा हूं न, सम्भव है उस भाषण-कर्त्ता के अन्दर से पिता की भी झलक आ जाती हो, पिता की बोली सुनाई पड़ती हो, पर यदि वह नहीं भी सुनाई पड़ती तो भी भाषण-कर्त्ता पर कोई आंच नहीं आ सकती, वह अपनी जगह पर

ठीक है और अपने कर्त्तव्य का पालन तत्परता से कर रहा है। उसी तरह यदि साहित्य आपकी रोटी की समस्या को न सुलझा कर आपको रोटी की समस्या को सुलझाने योग्य बनाये भर ही रखता है तो भी वह अपनी जगह पर ठीक है।

और यह एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण काम है। अरे, मानव जीवन की सबसे बड़ी समस्या क्या है? यही न, कि मनुष्य की मानवता बची रहे, उसके अन्दर जो स्नेह का एक सोता बहता रहता है वह सूखने न पावे। और यह दुनिया है जो उसे भून कर पापड़ बना देना चाहती है। यदि यह मानवता ही नष्ट हो गई तो फिर सब कुछ नष्ट हो गया।

अगर किश्ती डूबी तो डूबोगे सारे,
न तुम ही रहोगे न साथी तुम्हारे।

यदि किश्ती बची रही और हम पानी की सतह से जरा भी ऊपर अपने सिर को रखने में समर्थ हो सके तो दो एक रोज की फाकेकशी के बाद भी कभी अन्न के दो दाने मिल जा सकते हैं। पर जब डूब ही गये तो? मैं कल्पना की आंखों से देखता हूं कि जहाज डूब रहा है, मानवता त्राहि-त्राहि पुकार रही है, पर साहित्यिक छोटी-छोटी बचाने वाली डोंगी (Life buoy) को फेंक कर यात्रियों के प्राणों की रक्षा कर रहा है। वह अपना काम कर चुका। अब अनेक धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं के सदस्य आकर उनकी सेवा करें, अन्न दें, भोजन दें।

एक बार मैं अपने एक बहुत ही बड़े साहित्यिक मित्र के साथ बैठ कर वार्तालाप कर रहा था। उनके पास बहुत सी पुस्तकें पुरस्कार-निर्णयार्थ आई हुई थीं। उनमें एक था रशियन उपन्यास (शायद गोर्की का, मुझे ठीक याद नहीं) का हिन्दी अनुवाद भी था। उसमें उन्होंने एक प्रसंग को

दिखलाया जो कामुकता की बातों से पूर्ण था जिन्हें हम अश्लील भी कह सकते हैं। मैंने उनसे पूछा कि "अच्छा, यह तो बतलाइये। ये लेखक गण अपनी कथाओं के बीच बीच में ऐसे प्रसंगों को लाते ही क्यों हैं ? यह तो कहा जा सकता नहीं कि वे इनके अशोभन स्वरूप से परिचित ही न हों।" उन्होंने कहा "कुछ नहीं, केवल पाठक की दिलचस्पी बनाये रखने के लिये ही ये लोग सेक्स का पुट दे देते हैं।"

मुझे यह बात जंचती सी लगी। मैंने कहा "हाँ जी। यही बात ठीक है। मैं प्रोफेसर हूँ। मेरे सामने सब से बड़ी समस्या यह रहती है कि छात्रों की दिलचस्पी सदा मेरे व्याख्यान में कैसे बनी रहे। ऐसा न हो कि वे मेरे व्याख्यान के प्रति उदासीन हो जाय।। अतः मैंने देखा है कि व्याख्यान के बीच में कोई रसीली बात कह देने, यथावसर सेक्स का हल्का पुट दे देने से श्रोताओं की भावात्मक सत्ता पर अधिकार बनाये रखने में थोड़ी सुविधा जरूर हो जाती है। मेरे कहने का अर्थ यह है कि साहित्य का भी काम कुछ ऐसा ही है। मेरे लेक्चर में दोनों व्यक्तित्त्वों का सहयोग रहता है साहित्यिक का और व्याख्याता का। भावात्मक सत्ता पर अधिकार बनाये रखने का काम साहित्यिक करता है और व्याख्येय विषय के सम्बन्ध में ठोस सामग्री देने का काम व्याख्याता करता है। एक जीने योग्य बनाये रखता हैं, दूसरा जिलाता है, सुधारता है, समृद्ध करता हैं।

मैं ही ऐसा करता होऊँ ऐसी बात नहीं। सभी ऐसा करते हैं। हां, भले ही उन्हें इसका ज्ञान न हो। कल ही मेरे मित्र ने जो व्याख्यान के प्रारम्भ में भूमिका के रूप में कुछ बातें कहीं उनका मूल विषय से क्या सम्बन्ध था सिवा इसके कि किसी तरह श्रोताओं के यान को अपनी ओर

आकर्षित किया जाय और उसमें ग्रहणशील स्थिति उत्पन्न की जाय। इसीसे जिन विचारकों ने यह कहा है कि मनुष्य जन्मना कवि होता है उनकी बातों में विश्वास करने को जी चाहता है। सब से पहले हम जीना चाहते हैं, यह हमारी जैविक आवश्यकता है। (biological necessity) इसी को साहित्य या कविता पूरी करती है ।

लाक्षणिक या रूपक की भाषा में बातें करना सदा तो ठीक नहीं होता पर कभी कभी उसका सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है। मैं शर्करावेष्ठित कुनैन की बात नहीं कहूंगा और न शक्कर के तौल पर साहित्य को और कुनैन के तौल पर उपदेश को रखूंगा। यह बात बहुत बार कही जा चुकी है। मेरे सामने तीव्र ज्वराक्रान्त रोगी का चित्र उपस्थित है। यों रोग को शत्रु नहीं समझना चाहिये। आहार-विहार सम्बन्धी अनियमितता के कारण शरीर में कुछ विजातीय द्रव्य एकत्र हो जाते हैं। उन्हें दूर करने का प्रयत्न प्रकृति करती है। उसे ही रोग कहते हैं। रोग को दबाना भी नहीं चाहिये। परन्तु रोगी पीड़ा से कराह रहा है, पीड़ा असह्य हो रही है। इस समय सब से बड़ी तात्कालिक समस्या यह है कि पीडा को किस तरह सह्य बनाया जाय। ज्वर की तीव्रता को किस तरह कम किया जाय। रोग से मुक्त करने का काम तो अन्त में चल कर प्रकृति के हाथों ही सम्पन्न होगा। हमने दवा की सूइयों के सहारे ज्वर को दबा भी दिया तो रोग से मुक्ति थोड़े ही मिल जायगी?

बुखार न सही खांसी ही सही। हमारा काम ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करना है कि हम ज्वर के वेग को सम्भाल सकें और प्रकृति को अपना काम करने का अवसर मिल जाय। उसी तरह रोगग्रस्त मानवता को

थोड़ी स्फूर्ति प्रदान कर, उसकी पीड़ा को थोड़ा कम कर साहित्य निसर्ग द्वारा सम्पादित होते रहने वाले सर्वारम्भ को कार्य करने का अवसर देता है। यदि वह आगे बढ़ कर, घुट्टी दे कर, दवा नहीं पिलाता तो आप उसे दोष नहीं दे सकते।

मैं आपके सामने दो, तीन कविताओं के टुकड़े रख रहा हूं:—

करुणामय को भाता है तम के पर्दे में आना,
हे नभ की दीपावलियों क्षण भर को तुम बुझ जाना।

× × × × ×

विस्तृत नभ का कोई कोना कभी न मेरा अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल थी मिट आज चली
मैं नीर भरी दुख की बदली।

× × × × ×

जिस खेत से दहकाँ को मुयस्सर न हो रोटी,
उस खेत के हर गोशाये गन्दुम को जला दो
सुलतानिये जम्हूर का आता ज़माना,
जो नक्शे कुहन तुम को दिखे उसको मिटा दो

इन कविताओं में आप किस को श्रेष्ठ कहेंगे? समाजवादी दृष्टि-कोण वाले मार्क्सवादी तो अन्तिम कविता को ही श्रेष्ठ कहेंगे। परन्तु उन्हें ख्याल रखना चाहिये कि बहुत जोर शोर से क्रान्ति का नारा बुलन्द करने वाला हृदय अन्दर से खोखला भी हो सकता है। क्रान्ति का झण्डा उसके हाथों से उठकर झुक भी जा सकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि गरजने वाले मेघ सदा बरसें ही, यह कोई जरूरी बात नहीं।

साथ ही **"मो सम कौन कुटिल खल कामी"** कहने वाले में विपत्तियों के पर्वत की धज्जियां उड़ा देने की ताक़त हो, उसकी देह तो तीन हाथ की ही हो पर उस पर जो छाती हो वह हजार हाथ की हो। वह अपनी पराजय को स्वीकार तो कर लेता हो पर वह एक स्फूर्तिदायक ललकार (Bracing Challenge) भी हो सकता है और ज़ोर शोर की आवाज करनेवाले ढोल के अन्दर पोल भी हो सकती है।

मेरे जानते साहित्य में सामयिकता, यथार्थवादिता इत्यादि की वकालत करने वाले व्यक्तियों के द्वारा जो सब से बड़ी भूल होती है वह यह है कि वे जीवन और साहित्य को एक में मिला कर देखते हैं। वे जीवन की वास्तविक अनुभूति और काल्पनिक अनुभूति को समानार्थक मान लेते हैं। वे उपन्यास में उल्लिखित घटना को पढ़ कर पाठक में उसी तरह की प्रतिक्रिया का उन्मेष देखना चाहते हैं जैसा वास्तविक जीवन में होता है। जहाँ आपने यह स्वीकार किया कि कला में उसी तरह की अनुभूतियां खोजी जानी चाहिए जो वास्तविक जीवन में पाई जाती हैं तब तो यह स्पष्ट है कि 'वास्तविक जीवन' के सामने ये काल्पनिक तथा साहित्यिक अनुभूतियाँ कितनी नगण्य हैं। एक साधारण सा सरदर्द या दाँत का दर्द बड़ी से बड़ी ट्रेजिडी से अधिक वास्तविक है। जीवन में जो साधारण प्रणय की अनुभूति हमें होती है वह साहित्य के सर्वश्रेष्ठ प्रणय गीत से महत्त्व-पूर्ण हैं, और अनुभवार्ह हैं (worth experience) हैं। जहाँ आपने कला के कलात्मक पहलू को भुला दिया और उसमें वास्तव अनुभूति ढूंढने लगे, कला की अपील का श्रेय कला, तथा कल्पना को देने के बजाय वास्तविक अनुभूति को देने लगे वहीं आपने कला को कौड़ी का तीन बना दिया। अनुभूतियां कला की सामग्रियां हो सकती है पर लक्ष्य

नहीं। लक्ष्य है आत्माभिव्यक्ति जो अनुभूति सामग्री के द्वारा अस्तित्व धारण करती है। कला है, अनुभूति+कुछ और चीज। यह कुछ और चीज बड़ी रहस्यमयी वस्तु है। इसके स्वरूप का विश्लेषण नहीं हो सकता।

साहित्य में सामयिकता की मांग करने वालों के द्वारा जान या अनजान में एक और भूल होती है। किसी उपन्यास या नाटक को लिया। पता लगाया किस समय में उसकी रचना हुई, उस समय की सामाजिक परिस्थिति कैसी थी। उस समय जो राजनैतिक या आर्थिक परिस्थिति थी उसके साथ संगति बैठाकर बतला दिया कि उसी समय में, दूसरे किसी समय में नहीं, क्यों इस तरह की रचना हो सकी। अंग्रेजी में डिकेन्स के उपन्यासों का इस तरह से अध्ययन किया गया है। हिन्दी में हम चाहें तो भारतेन्दु युग का इस तरह का अध्ययन सम्भव हो सकता है और हम तत्कालीन वैयक्तिक निबंधों और नाटक के प्रचलन के रहस्य को तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों में खोज सकते हैं।

कहना नहीं होगा कि इन शोधों के द्वारा किसी रचना के सार स्वरूप को समझने में बहुत सहायता मिलेगी। पर साहित्य के आलोचक को इससे क्या? क्या वह कहने का दावा करेगा कि चूंकि इन निबन्धों के द्वारा समाज की सेवा हुई अतः ये उच्च कटि के निबंध हैं। यदि वह ऐसा कहता है तो मैं कहूंगा कि वह सारे विषय को सस्ते ढंग से देखता है, गहराई में जाकर नहीं देखता, पालायनवादी है, समस्या को ठीक ढंग से देखने का मानसिक कष्ट नहीं उठाना चाहता। वह साहित्य को भाषण (Rhetoric) बना देता है, भाषण बना देता है, सामाजिक उपयोगिता का आधार लेकर उसे प्रचार का यन्त्र बना देता है। इस तरह से तो

विचार करने से तो 'टाम काका की कुटिया' 'हैमलेट' से अधिक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति समझा जायगा। 'आदर्श हिन्दु,' 'सौ अजान न एक सुजान' जैसे ग्रन्थ प्रेमचन्द के 'गोदान' से अधिक साहित्यिक होने का दावा करने लगेंगे।

यदि यह तर्क मान लिया जाय तो विशुद्ध कलावादियों के तर्क को, कला कला के लिये मानने वाले के तर्क को मानने में क्या आपत्ति हो सकती है? आप सामाजिक उपयोगिता की कसौटी पर कला की श्रेष्ठता का निर्णय करते हैं। ठीक है। पर वे कहेंगे ऐसा क्यों? हम कला की कसौटी पर ही सामाजिक संस्थाओं तथा उनकी उपयोगिता का निर्णय क्यों न करें? मनुष्य में तथा अन्य प्राणी में क्या अन्तर है? यही न कि मनुष्य बुद्धिमान है, उसमें बुद्धि है, सोचने समझने की शक्ति है, उसकी शक्ति बौद्धिक क्रियाओं की ओर लगती हैं। यदि यह बात ठीक है तो सामाजिक उपयोगिता की कसौटी पर इनको न जांच कर एक काम क्यों न करे?

देखें कि हमारी सामाजिक संस्थायें कहाँ तक इन बौद्धिक क्रियाओं के लिए, बौद्धिक व्यवसाय के लिये सहूलियत पैदा करतीं हैं। जो संस्थायें इस बौद्धिक व्यवसाय (कला भी जिसका रूप है) में अड़चन उपस्थित करतीं हैं वे निंदनीय और जो जितनी ही इसके लिए सुविधा देतीं हैं वे उतनी ही श्रेष्ठ। बुद्धि ही संस्था का निर्माण करती है, संस्था बुद्धि का नहीं। सामाजिक संस्था तथा उपयोगिता के द्वारा कला का मूल्य निर्द्धारण करना तो वैसा ही है जैसा कि टाइप राइटर की सुविधा के लिए लिपि को तोड़ना मरोड़ना। यदि कला को अकलात्मक पैमाने पर

जांचने लगेंगे तो कला ध्वंशात्मक लगेगी ही। यह कला के लिये ही नहीं सब के लिये लागू है। अनौचित्य सदा रस-भंग का करण होता है। आचार्य ने कहा ही है।

अनौचित्यात् ऋते नान्यत्, रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥

कलावादी कहेंगे कि आपके मत को मान लेने पर यही होगा न कि कला हानिकारक भी हो सकती है। क्या हुआ हानिकार हुई तो? कला की मांग मानव हृदय में नैसर्गिक रूप से है। हम कला को प्यार करते हैं। बस, इसके अस्तित्व के लिए इतना ही पर्याप्त है। अपने अस्तित्व के लिए वह सामाजिक उपयोगिता अथवा राजनीतिक महत्त्व की सुरक्षा की आड़ नहीं लेगी। वह "मनोः प्रसूति" की तरह "स्ववीर्यगुप्त" है। हितकर होना तो दूर रहे यदि वह अहितकर भी है तो इससे उसके मौलिक महत्त्व में कुछ भी बट्टा नहीं लगता। To admit art because it can up lift the masses or the individual, is like admitting the rose because we can extract from roses a medicine for the eyes" अर्थात् यह कहना कि कला जनता या व्यक्ति को ऊपर उठाती है तो वैसा ही हुआ कि हम गुलाब के फूल के महत्त्व को इसलिए स्वीकार करें कि उससे हम आँखो की दवा बना सकते हैं।" बाहरे खूब!

वास्तव में समाजवादी, आर्थिक अथवा मार्क्ससवादी दृष्टिकोण से साहित्य के मूल्यांकन करने वाले व्यक्तियों की तर्क–पद्धति को संक्षेपतः एक दो वाक्यों में कहा जा सकता है। सामाजिक या आर्थिक ढाँचे के

परिवर्तन के साथ ही साथ कला के रूप में भी परिवर्तन होते देखा जाता है। अतः आर्थिक ढाँचे के परिवर्तन ही कला के स्वरूप के परिवर्तन के कारण हैं। यह तर्क-पद्धति सर्वथा भ्रामक है। दो वस्तुओं के सह अस्तित्व अथवा समानाधिकरण्य को देख कर एक को कारण तथा दूसरे को कार्य मान लेना तर्क-शास्त्र के प्रारम्भिक नियमों के विरुद्ध है। यदि दुर्जन-तोष-न्याय के अनुसार सह-अस्तित्व को ही कारणत्व मानने के लिए पर्याप्त समझा जाय तो कारणत्व का श्रेय आर्थिक परिवर्तन को क्यों मिले ? कलात्मक परिवर्तन को ही आर्थिक या सामाजिक परिवर्तन का कारण क्यों न माना जाय ? इतिहास से बहुत उदाहरण दिए जा सकते हैं जबकि कलात्मक अभिरुचि सामाजिक संगठन (Structure) के परिवर्तन में साक्षात् उपकारक सिद्ध हुई है केवल आरादुपकारक नहीं।

हाँ, यह तो कहा नहीं जा सकता कि परिस्थितियों का प्रभाव कलात्मक अभिव्यक्ति पर कुछ पड़ता नहीं। कला भी परिस्थितियों के साथ deal करने का ही एक तरीका (method) है। पर ये परिस्थितियां व्यक्ति पर हावी नहीं हो सकतीं। समस्याओं का समाधान तथा उसे हलकरने का तरीका व्यक्ति की निजी वस्तु है, उसकी स्वतन्त्रता की घोषणा है। हल व्यक्ति ही निकालता है। सम्भव है हल के स्वरूप पर परिस्थितियों का कुछ प्रभाव पड़ा हो, उनके द्वारा एक सीमा निर्धारित हो गई हो पर अन्तिम निर्णय तो व्यक्ति की भावना पर ही है। रज्जु में सर्प का, स्थाणु में ही व्यक्ति का, बालू में ही पानी का भ्रम हो सकता है। स्थाणु में सर्प का, रज्जु में व्यक्ति का, बालू में रज्जु का भ्रम नहीं हो सकता। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि रज्जु, स्थाणु तथा बालू अर्थात् परिस्थितियों ने समाधान के रूप को प्रभावित तो किया है। पर

अन्ततोगत्वा हल तो व्यक्ति ही निकलता है। आप रज्जु में सर्प को देखते हैं, मैं नहीं भी देख पाता। यह भी हो सकता है कि रज्जु को देखते ही एक मर जाय, दूसरा डर कर भाग जाय, तीसरा उसे छड़ी से हिलाकर देखे, चौथा उस पर लगुड़-प्रहार करने लगे। समाधान तो व्यक्तिगत होता ही है। कला भी एक समाधान ही है। वहाँ व्यक्तित्व तो सबके सर पर चढ़ कर बोलेगा ही।

साहित्यिक तथा राजनीतिज्ञ दोनों को ही समान परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। परन्तु दोनों के काम करने के ढंग में अन्तर होता है। राजनीतिज्ञ को फूंक फूंक कर पैर रखना पड़ता है। जब तक जनता की ओर से स्पष्ट शब्दों में किसी बात के लिए मांग न हो, और उसे इस बात का भरोसा न हो जाय कि जनता की ओर से उसका विरोध न होगा तब तक वह किसी कार्य में हाथ नहीं डाल सकता। पर साहित्यिक जनता का विरोध भी कर सकता है, और यदि उचित हुआ तो अकेला भी। यह सही है कि परिस्थितियां पूरे तौर से तैय्यार रहेंगी तभी उनके सामना करने वाले, उनके सम्भालने वाले तरीके का प्रचार होगा, उसे मान्यता मिलेगी। बारुद तैयार हो तो चिनगारी पाते ही आग भड़क उठेगी। पर चिनगारी अलग चीज है और बारुद अलग। चिनगारी बारुद का अनिवार्य अंश नहीं। उसे ऊपर से जुटाना (Supply करना) पड़ता है। हो सकता है कि भारत की परिस्थितियां गांधी के लिए तैयार (ripe) हों पर गांधीवाद गांधीजी की देन है, वह एक व्यक्ति की ज्योति की चिनगारी है। उसी तरह वह चीज़ जो किसी रचना को सबसे पृथक कर साहित्य की विशिष्ठ श्रेणी में प्रतिष्ठित कर देती है वह समाज की ओर से, अर्थशास्त्र की ओर से नहीं आती, व्यक्ति की ओर से आती हैं।

ऊपर की पंक्तियों में व्यक्ति के पक्ष का समर्थन किया गया है पर प्रधानता की ही दृष्टि से। इसी दृष्टि से कि सामाजिकता के बिना भी साहित्य–सृजन की कल्पना हो सकती है पर व्यक्ति के बिना नहीं। समाज में व्यक्ति रहता है या नहीं इसमें एक क्षण शंका का अवसर हो सकता है क्योंकि ऐसे समाज के उदाहरण हमने देखे हैं जिनमें व्यक्ति को भून दिया गया हो। पर व्यक्ति में समाज रहता है इसमें तो शंका हो ही नहीं सकती। जहां एक है वहाँ दो होगा ही। वास्तविक (actual) न सही संभाव्य (potential) ही सही। माना कि साहित्य की रचना दूसरों के लिये है यदि कोई दूसरा पाठक न मिलेगा तो वही व्यक्ति अपने को विभक्त कर सृजन के समय पर स्रष्टा होगा, पढ़ने के समय पाठक होगा। मैं आत्मा की स्वतन्त्रता वाले सिद्धान्त की वकालत नहीं करता और न यही कहता हूँ कि व्यक्ति जो चाहे करने के लिये, कला के सृजन के लिए, उपदेश देने के लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। यह भी सम्भव है कि यदि जीवन को प्रभावित करनी वाली सारी शक्तियों को जान पाने की शक्ति मनुष्य में होती तो किसी घटना या परिस्थिति विशेष के आघात से प्रतिक्रिया का क्या स्वरूप होगा यह कह सकना सम्भव होता।

पर ऐसा होना सम्भव नहीं। मनुष्य की शक्ति सीमित है, वह निस्सीम नहीं। कोई वस्तु किसी विशिष्ट रूप में क्यों अवस्थित है? १८वीं शताब्दी में स्पेक्टटर में प्रकाशित होने वाले एसे नामक साहित्यिक रूप विधान की प्रधानता क्यों हो गई? १९वीं शताब्दी में उपन्यासों का बोल-बाला क्यों हो गया? इस बात को कारण-कार्य-शृंखला में बांध कर नहीं बताया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक आर्थिक या सामा-

जिक परिवर्तन के कारण हमारी सौन्दर्यमूलक अभिव्यक्ति ने निबन्ध का अथवा उपन्यासों का रूप धारण किया। कारण को परिभाषा देते हुए कहा गया है 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्' कारण को 'अनन्यथा सिद्ध होना चाहिये और नियतपूर्वभावी होना चाहिये। आर्थिक अभिव्यक्ति को सौंदर्यमूलक अभिव्यक्ति से नियतपूर्वभावी नहीं कहा जा सकता। अतः अन्ततोगत्वा यही कहा जा सकता है कि जो चीज जिस रूप में है वह है, उसका स्वभाव ही ऐसा है। यदि किसी समय किसी साहित्यिक विधा ने प्रमुखता धारण कर ली तो यह उसका स्वभाव ही ऐसा है, उसे ऐसा होना ही था। यदि तर्क के सूत्र को इस सीमा तक खींचकर ले जाया जाय, तब तो इसमें किस को आपत्ति हो सकती है ? पर यह बात सही है कि ऐसा करने से साहित्य के मूल को अर्थ–शास्त्र में खोजने वाले 'आर्थिक–कारण सिद्धान्त' की जड़ ही हिल जाती है।

आर्थिक अथवा सामाजिक दृष्टिकोण से साहित्य पर विचार करने से यह तो सम्भव हो सकता है कि बहुत सी उपयोगी बातें तथा तथ्यों को एकत्र किया जा सके। इन तथ्यों का साहित्य–सृजन, साहित्य के रूप विधान तथा शिल्प से कुछ सम्बन्ध बैठा कर दिखाया भी जा सकता है। उदाहरणार्थ यह बतलाया जा सकता है कि लेखक का जन्म किसी अर्थ–सम्पन्न परिवार में हुआ तथा अपने जीवन भर एक विशिष्ट समुदाय के व्यक्तियों के साथ उसका का सम्पर्क रहा। अतः उसके साहित्य की वर्ण्य–वस्तु तथा शिल्प–विधान में भी विशिष्टतायें उत्पन्न हो गईं। आलोचकों ने शेक्सपियर के नाटकों का अध्ययन इस दृष्टि से किया है। कहा गया है कि नाटक के दर्शकों के स्वरूप परिवर्तन के साथ–साथ शेक्सपियर की नाट्यकला में भी परिवर्तन होता गया है, जब South Bank पर Open-

air Globe के खुले मैदान में नाटकों का अभिनय होता था तो नाटक की रचना एक विशेष ढंग की होती थी। बाद में Black friars के बन्द प्रेक्षागृहों में नाटकों का अभिनय होने लगा और आभिजात्य वर्ग के सुरुचि-सम्पन्न दर्शक आने लगे तो शेक्सपियर की कला ने भी दूसरा रंग पकड़ा।

इसी तरह पंत के काव्य विकास के इतिहास को देखा जा सकता है। जिस परिवार में उनका जन्म हुआ, उसकी आर्थिक अवस्था क्या थी। बाद में जब राजा काला कांकर के साथ वे रहने लगे तो वहाँ के अभिजात्यवर्गीय जीवन का उन पर क्या प्रभाव पड़ा? उनको नौका-विहार और सांध्य-तारा तथा अप्सरा की बात सूझी। बाद में वे ग्राम्या की ओर मुड़े और आज वे अरविन्द दर्शन के अतिमानव की बातें कर रहे हैं। भारतेन्दु या अन्य किसी भी कवि के सम्बन्ध में एतादृश बहुत सी ज्ञातव्य और उपयोगी बातें एकत्र की जा सकती हैं। पर सूचनाओं का एकत्रीकरण जितना ही सहज है उतना ही कठिन है उनकी व्याख्या करना अर्थात् साहित्य-सृजन में इनके समानुपातिक महत्व का उचित मूल्यांकन करना, यह बतलाना कि इन्हीं परिस्थितियों के चलते ही साहित्य-सृजन को विशिष्ट स्वरूपोपलब्धि हो सकी। यदि परिस्थितियां दूसरी रहतीं और लेखक को किसी अन्य प्रकार की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता तो उसके निर्मित साहित्य का रूप भी दूसरा ही होता।

साहित्य को साहित्य के रूप में न देख कर, स्वतन्त्र, अपनी शक्ति से अपने पैरों के बल खड़ी रहने वाली वस्तु के रूप में न देख कर वाह्य पारिस्थितिक तरंगों पर उठने और गिरने वाली वस्तु के रूप में देख कर हम अपने सर पर कैसी बला मोल लेते हैं, हम किस तरह अराजकता के

क्षेत्र में प्रवेश करने के लिये वाध्य हो जाते हैं, यह एक उदाहरण से स्पष्ट होगा। यह बात मालूम हो जायेगी कि एक ही कवि या नाटककार के सम्बन्ध में कितनी परस्पर-विरोधी बातें कही जा सकती है। शैक्सपियर के सम्बन्ध में John Maynard Keynes ने लिखा हैं कि शैक्सपियर जैसा महान् साहित्य स्रष्टा का समुद्भव इसलिए सम्भव हो सका कारण कि जिस समय वह अवतीर्ण हुआ उस समय हमारी आर्थिक परिस्थिति ऐसी थी कि हम शैक्सपियर के भार को सम्भाल सकते थे। आर्थिक लाभ की स्फीति से शासक वर्ग को आर्थिक चिन्ताओं से मुक्ति मिलती है और तज्जन्य स्फूर्ति तथा उल्लास के वातावरण में ही महान लेखक उत्पन्न होते हैं। मतलब यह कि आर्थिक स्मृद्धि ही साहित्य स्रष्टा की जननी है। यह भी एक दृष्टिकोण है और इसके समर्थन में कुछ तथ्य जुटाये जा सकते हैं।

पर शैक्सपियर को दूसरा विचारक दूसरे ढंग से भी समझ सकता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार करने वाले Lunacharasky आपके सामने एक समस्या रखेंगे। वे कहेंगे कि यह तो आप को मानना ही पड़ेगा कि शैक्सपियर की कला का चरमोत्कर्ष उसके दुखान्तक नाटकों में है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण tragic है। इसका क्या कारण है ? यही कारण है कि शैक्सपियर के समय सामन्त वर्गीय अभिजात्य अपने प्राचीन गौरव के आसन से अपदस्थ हो चुका था, उनके हृदय में अपनी अपमानजनक दशा के कारण अवसाद के भाव भर गये थे, वे निराश हो चुके थे और ये ही भाव शैक्सपियर की रचनाओं में प्रकट हो रहे थे।

शैक्सपियर के संबंध में जो बातें कही गई हैं उसी तरह की बातें

किसी भी लेखक के बारे में कही जा सकती हैं और वे परस्पर विरोधी भी हो सकती हैं। युग की आर्थिक संपन्नता, समृद्धि एवं वैभव के साथ साहित्य सृजनोत्कर्ष की संगति बैठा लेना कठिन नहीं हैं। हम कह सकते हैं कि शेक्सपियर एलिजाबेथिन युग के वैभवोत्कर्ष की उपज थे। यदि यही बात ठीक है तो जर्मन के महान् तथा दिव्य साहित्यिक महारथी गेटे के अस्तित्व की समस्या कैसे सुलझाई जा सकती है? जिस समय नैपोलियन की दुर्दान्त सेना जर्मनी को अपने पैरों से रौंद रही थी उस समय गेटे जैसा महान् कवि, नाटककार तथा आलोचक की संभाव्यता किस तरह हो सकती थी ?

यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास से उदाहरण लिये जाँय तो अनेक घटनायें मिलेंगी जिन्हें इस तरह समझा सकना सम्भव नहीं। सूर, तुलसी तथा केशव ये तीनों कवि समकालीन थे। यहाँ तक कि इन तीनों के परस्पर मिलने की बात भी कही जाती है। पर इनके साहित्य की अभिव्यक्ति में कितना अन्तर है? यदि इतिहास की गवाही हमारे सामने न हो तो हम इनकी समकालीनता में किस तरह विश्वास करेंगे? यदि शुक्ल जी की बात को सही मान लिया जाता है (हालां कि अब इस में शंका की जाने लगी है) कि वाह्य परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य पर अनिवार्य रूप से और सीधे ढंग से पड़ता है, और हिन्दी साहित्य के विकास के इतिहास को इस्लाम के आक्रमण की क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में देखा जाय। हिन्दुओं ने विदेशी आक्रमण का डट कर मुकाबिला किया इसलिए तत्कालीन काव्य में वीरता के स्वर गूँज उठे और वीर-गाथा काल का अविर्भाव हुआ। बाद में जब वे असफल हो कर निराश हो गये तब भगवान की शरण में गये और भक्ति युग का प्रारम्भ हुआ।

यदि इस तर्क-पद्धति पर विश्वास किया जाय तो १६वीं शताब्दी में भारतेन्दु युग के नव जागरण तथा नव स्फूर्ति की संगति इससे कैसे बैठाई जा सकती है ? उस समय भी तो भारत निराश हो चुका था ? भारत ने अंग्रेजों के बढ़ते चरण के विस्तार को प्राणपन से रोकने की चेष्टा की, सन सत्तावन में बूढ़े भारत में फिर से नई जवानी आ गई थी और उसकी पुरानी तलवार चमक उठी थी, पुरुष क्या स्त्रियों ने भी रणचण्डी का नृत्य किया था। पर होनी हो कर रही। भारत के नभ का प्रभा-पूर्ण, शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य अस्तमित प्राय हो गया। ईश्वर की शरण में जाने के लिए मार्ग—प्रशस्त था। तब साहित्य में भक्ति युग का प्रादुर्भाव क्यों कर सम्भव नहीं हो सका ?

निष्कर्ष यही निकला कि साहित्य में प्रगति लाने तथा उसके विविध रूप विधान के सृजन करने का श्रेय किसी एक बात को दे देना ठीक नहीं। साहित्य को सीमा में बांधना सम्भव भी नहीं। जो चीज सीमा के बन्धन में आयेगी वह साहित्य न होकर कुछ और ही चीज होगी। चाहे टेन का Race, melieu और moment का सिद्धांत हो चाहे हीगेल का Spirit वाला सिद्धांत हो, चाहे मार्क्स का उत्पादन पद्धति वाला सिद्धांत हो सब एकांगी हैं। एकांगी तो व्यक्ति वाला सिद्धांत भी है। पर वही एक चीज है जो हाथ लगती है। अतः हमें बात करनी होगी तो उसी की करेंगे।

मध्ययुग तथा पूंजीवाद के उदय में अनेक शताब्दियों का अन्तर है। इस विशाल अवधि में ऐसा कोई वैज्ञानिक आविष्कार नहीं हुआ जिसके कारण उत्पादन के तरीके (mode of production) जिसकी दुहाई मार्क्सवादी देते नहीं थकते, में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ हो।

परन्तु साहित्य की विधा ने न जाने कितने क्रांतिकारी परिवर्तन देखे ? औद्योगिक क्रांति ने बहुत पहले ही अपनी जड़ जमा ली थी, हमारे जीवन के पद-पद पर उसका प्रभाव पड़ रहा था पर साहित्य में उसकी झलक १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अन्तिम दिनों में आने लगी थी जब वह अत्यन्त पुरानी हो गई थी।

आलोचकों ने साहित्य और समाज की संगति बैठाने में बहुत ही परिश्रम किया है और इसमें सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दिया है। साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास (Novel) जैसी विधा की मध्यवर्गीय उत्पत्ति के पक्ष में जब तर्कों की पंक्ति खडी की जाती है, १८वीं शताब्दी में Essay जैसी वस्तु का मूल सामाजिक परिस्थितियों में ढूंढ कर दिखाया जाता है तो उस पर अविश्वास करना कठिन हो जाता हैं। भारतेन्दु युग में वैयक्तिक निबन्ध तथा रूपकों की भरमार क्यों हो गई इसके भी सामाजिक कारण उपस्थित किये जा सकते हैं। यदि समाज की प्रचलित धारा से साहित्य की वर्ण्य वस्तु का साक्षात् सम्बन्ध देखने में कठिनाई हो तो यह कह कर पिंड छुडाया जा सकता है कि वर्ण्य वस्तु में सामाजिक प्रभाव न सही उसके प्रकाशन के ढंग में,'तर्जे अदा' में तो है। जैसे पोप और ड्राईडेन की कविताओं की चुस्ती और दुरुस्ती, तथा सफाई में उस युग की बौद्धिकता देखी जा सकती है। कहा जा सकता है कि सामाजिक मूल्यों का कोई कलात्मक महत्व न हो पर वे अन्य रूप में कला के सहयोगी हो सकते हैं। पर यह कोई आवश्यक नहीं कि सामाजिक मूल्यों का कला सम्बन्धी योगदान हो ही। सामाजिक मूल्यों की बात को हम साहित्यक अध्ययन का केन्द्रीय भाव, अनिवार्य अंग नहीं मान सकते । ऐसा बहुत

सा साहित्य है और महत्वपूर्ण साहित्य है जो समाज से निर्लेप हो कर लिखा गया है। साहित्य अपने गौरव और महत्त्व को सामाजिक प्रतिनिधित्व से नहीं प्राप्त करता। उसका अपना, निजी महत्त्व है जिसके बल पर वह अपने अस्तित्व की घोषणा कर सकता है।

एक और बात पर विचार करना है। मनोवैज्ञानिक, सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टिकोण से साहित्य के मूल्यांकन करने वाले सिद्धान्त को उत्पत्ति मूलक सिद्धान्त कहा जा सकता है। कारण यह दृष्टिकोण, प्रधानत: यह बतलाने की चेष्टा करता है कि यह जो साहित्यिक रूप विधान है उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई? हमने इतिहास के सहारे आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन किया और इस परिणाम पर पहुंचे कि उस समय की परिस्थितियां पतनोन्मुख-कारिणी थीं, नीचे ले जाने वाली थीं, समाज में आर्थिक वैषम्य उत्पन्न कर उत्पीडन करने वाली थीं। लेखक भी शोषक वर्ग का सदस्य था। अत: इस वातावरण में ऐसे लेखक के द्वारा जो कुछ भी प्रयोग हुए वे अनिवार्यत: दोषपूर्ण होंगे, पतन की ओर ले जाने वाले होंगे।

उदाहरणार्थ आधुनिक स्थिति को लीजिये। हमारी बौद्धिक एकता छिन्न भिन्न हो गई है, कोई ऐसा विचार सूत्र, पहले की तरह नहीं रह गया है जो हम सब को आबद्ध किये रहे। परिणामत:, आज के समाज में वैयक्तिकता का बोलबाला है, सब अपनी अपनी निजी दुनियां में बन्द डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाने में ही मस्त हैं। एक दूसरे की भाषा को समझ नहीं पाता। सामाजिक परिस्थिति ही ऐसी हो गई हैं। इसका असर साहित्य पर भी बहुत पड़ा है। कुछ दिन पूर्व तो ऐसा

लगता था कि कथा-साहित्य का तो कायापलट ही हो जायेगा। उपन्यास की शैली, भाषा, विषयवस्तु पर इतना असर पड़ा और इतना क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ कि उपन्यास की मौत हो रही है, ऐसो शंका लोगों को होने लगी। इस ओर जेम्स ज्वायस के उपन्यास सम्बन्धी प्रयोग पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। आधुनिक हिन्दी कविता ने जो रुख अख्तियार किया है और प्रयोगवाद तथा प्रपद्यवाद की अबोधगम्यता को लेकर जो सामने आ रही है उससे हम परिचित हैं।

समाज–शास्त्र यह तो बतला सकता है कि इन विचित्रताओं के कारण क्या हैं, जेम्स ज्वायस ने जिस रूप में लिखा उसे उस रूप में क्यों लिखा? पर प्रश्न यह है कि इन प्रयोगों का साहित्यक महत्त्व क्या है वह इस पर क्या प्रकाश डाल सकता है? क्या हम कह सकते हैं कि चूंकि इन प्रयोगों के द्वारा कथा साहित्य में जो लचीलापन आया, उसके क्षेत्र में विस्तार हुआ वह एक ऐसी सामाजिक परिस्थिति को उपज है जिसे हम शोभनीय नहीं समझते अतः ये प्रयोग भी निंदनीय हैं। यदि हम कारण के मूल्यों को सीधे सादे ढंग से कार्य में भी देखने लग जायेंगे तो यह परिणाम होगा ही और हम अपने लिए अनेक उलझने मोल ले बैठेंगे।

यदि हम कारण–मूल्यों को कार्य–मूल्यों पर इतने सीधे और सहज ढंग से स्थानान्तरित करने लगेंगे तो कीचड़ से कमल कैसे उत्पन्न कर सकेंगे? गोबर या मलमूत्र की खाद से सुनहले तथा प्राण प्रद गेहूं के दाने कैसा उपजा सकेंगे? बाढ़ के प्लावन को कौन अच्छा कहेगा? बाढ़ से गांव के गांव नष्ट हो जाते हैं, कितने जान और माल की क्षति होती है? कोसी नदी को आंसुओं की नदी कहा ही जाता है। पर वही बाढ़ या विपत्ति

मनुष्य के अन्दर साहस, परिस्थितियों से टक्कर लेने का उत्साह भी तो पैदा करती है ? अतः इस साहस या उत्साह संचार को आपदोद्भूत होने के कारण ही त्याज्य भी माना जाने लगेगा ? शरीर अनित्य और मलवाही सही पर इसके द्वारा प्राप्त सब चीजों को अनित्य और मलवाही अतः त्याज्य माने जाने लगेगा तो कवि की इस उक्ति को भी असत्य मानना पड़ेगा ।

यदि नित्यमनित्येन निर्मलं मलवाहिना ।
यशः कायेन लभ्येत तल्लब्धं भवेन्नु किम् ॥

नहीं, अनित्य और मलवाही शरीर से हम नित्य और निर्मल यश भी प्राप्त कर लेने में संकोच नहीं करेंगे ।

अतः साहित्य पर विचार करते समय हमें इसकी पृथक सत्ता को मान लेना चाहिये । मान लेना चाहिये कि इसमें एक विशेषता है जो इस को मानवता की अभिव्यक्ति के अन्य रूपों से पृथक कर देती हैं । संभव हैं कि अन्य रूपों के साथ भी यह रहे, उन्हें सहायता दे अथवा उनसे सहायता ले पर यह है एक अलग वस्तु ही ।

मैं हर मन्दिर के पट पर अर्घ्य चढ़ाती हूँ
भगवान एक पर मेरा है ।
मैं हर पूजन-अर्चन पर शीश झुकाती हूँ
अभिमान एक पर मेरा है ।
मैं किरण किरण की श्री पर प्यार लुटाती हूँ
दिनमान एक पर मेरा है ।
मैं हर आशीष मन को स्वीकार कराती हूँ
वरदान एक पर मेरा है ।

उसी तरह साहित्य भले ही किसी के साथ रहे पर वह है एक अलग चीज ही और उसी के आधार पर उसका मूल्यांकन होना चाहिए। "'लक्षणान्तरमसाधारणधर्मवचनम्'' साहित्य के लिये भी असाधारण पर धर्म की स्वीकृति अनिवार्य है भले ही हम इसके स्वरूप का निश्चय न कर सकें।

हम सब जानते हैं कि टेबुल क्या है? इसका रूप रंग कैसा है? इसका आकार प्रकार कैसा है? इनकी लम्बाई चौड़ाई कितनी होती है? यह संभव है कोई कारीगर अपने घर में अपने कौशल से सुन्दरतर टेबुल का निर्माण करे और फैक्टरी में यंत्रों के द्वारा निर्मित टेबुल उसकी सुन्दरता को पा न सके। परन्तु ऐसा कहना तो तभी संभव है जब कि फैक्टरी या हाथ उद्योग दोनों से स्वतन्त्र हमारे अन्दर टेबुल की रूपरेखा वर्तमान है। हां, यह कर सकते हैं कि सामाजिक परिस्थिति का विश्लेषण कर यह बतलावें कि आज के युग में हाथ-उद्योग का यंत्रोद्योग की वृहदाकार उपज के मुकाबिले में टिकना सम्भव नहीं। यह भी बतला सकें कि किन ऐतिहासिक शक्तियों के कारण यन्त्र युग सामने आ गया है। पर ऐसा कहने में हम तभी समर्थ हैं जब कि टेबुल को टेबुल के रूप में Table qua Table, जांचने की कोई स्वतन्त्र कसौटी है जो टेबुल के स्वभाव के आधार पर ही प्राप्त हो सकी है। हम यह नहीं कह सकते कि यन्त्र सामूहिक निर्मिति टेबुल की खराबी है, विद्रूपता है। हम कह सकते हैं कि टेबुल खराब है क्योंकि हमारे मन में टेबुल की जो एक धारणा है उससे यह मेल नहीं खाता इतना और भी कह सकते हैं कि आधुनिक यन्त्रोत्पादन के युग की परिस्थितियों में इस तरह की खराबी अनिवार्य है। टेबुल के दोष को परखने के लिये हमें टेबुल की दुनिया से बाहर जाने की जरूरत नहीं है।

हमें टेबुल की दुनियाँ से बाहर जाने की जरूरत इस लिए पड़ती है कि उस कारण को ढूंढ सकें कि टेबुल में जो अमुक खराबी आ गई है और वह क्यों कर संभव हो सकी । अतः हमें किसी रचना का साहित्यक मूल्यांकन करने के लिये उसी कसौटी से काम लेना चाहिये जो साहित्य के स्वभाव से उपलब्ध हो, उसके ही घर में पाई गई हो, किसी दूसरे से से उधार न ली गई हो। ★

★ [अखिल भारतीय कुमार साहित्य परिषद के वार्षिक अधि-वेशन, बालोतरा (राजस्थान) की विचार गोष्ठी में दिया गया भाषण]

साहित्य का स्वरूप

मुझे जब तब उपन्यास, कहानी अथवा काव्य-संग्रह की पुस्तकों की आलोचना करने का अवसर मिला है। मेरे सामने सदा यही प्रश्न रहा है—किस दृष्टिकोण से उसकी आलोचना की जाय। हम उसमें नैतिकता के उपदेश को ढूंढ सकते हैं, मार्क्सीय वर्ग-संघर्ष को, वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक सत्य को ढूंढ सकते हैं, आदर्श तथा यथार्थवाद को हम बहुत दिन से ढूंढते आ रहे हैं। अर्थात् हमारे सामने एक आधार का, दृष्टिकोण का व्यापकत्व होना चाहिए जो रचना के क्षेत्र में बिखरी सारी सामग्री को सार्थकता प्रदान कर सके, उन्हें एकता के सूत्र में बांध सके। मान लीजिये आप एक खेल के मैदान में गये। वहां देखते क्या हैं कि एक छोटी-सी गेंद के पीछे कुछ व्यक्ति बेतहाशा पागल की तरह दौड़ रहे हैं। इससे भी बढ़कर कोई पागलपन की बात हो सकती है कि ऐसे निरर्थक कार्य के लिये प्राणों को खतरे में डाला जाय? पर उसी पर फुटबाल के खेल के सिद्धांतों के आधार पर विचार करें तो सारे व्यापार का एक बोधगम्य चित्र आपके

मानस पटल पर उतरेगा और आप विश्वास के साथ दूसरों को भी उस चित्र के दर्शन करने के लिये आमंत्रित कर सकेंगे।

इस विश्व पर विचार कीजिये। यह कितनी विविधताओं से भरा हुआ है। अराजकता का बोलबाला है; जो बात नहीं होनी चाहिये वही हो रही है। धर्म लुट रहा है, पाप फल-फूल रहा है। "सागर तीर मीन तड़पत है, हुलस होत पय पीन"। जवानी रो रही है। बुढापा हंस रहा है। कबीर ने जो अजीबोगरीब उलट वांसियां कही थी वह योंही नहीं। उन्होंने इस विचित्रता को बड़े गौर से देखा था तब कहा था।

बैल बियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दूहे तीन्यूं सांझ।
मकड़ी घरी माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी।
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सींवै सांप पहरइया।
नित उठि स्याल स्यंध सूँ जूझै, कहे कबीर कोई बिरला बूझे।

तब इसे कथन की पद्धति विशेष कहकर ही हम संतोष नहीं कर सकते। कबीर ने पहले-पहल अवश्य ही उस दृष्टि से देखा होगा जिस तरह फुटबाल के खेल को पागल की दौड़ कहने वाले व्यक्ति ने देखा था। बाद में जब भगवत्लीला की दृष्टि जगी होगी तब उन्हें रहस्य समझ में आया होगा। भले ही वे विरल हों।

निष्कर्ष यह कि आलोचक के सामने एक दृष्टि होनी चाहिये, एक आधार होना चाहिये। प्रश्न यह है कि वह दृष्टि कौनसी हो? स्पष्ट उत्तर है—वैसी हो जिसमें अधिक से अधिक मतैक्य हो। सब सहमत हों यह तो सम्भव नहीं, पर ऐसा जरूर हो जिसमें मतभेद की कम से कम गुंजाइश हो और जिसको झट से टाल देना कठिन हो। इस तरह से विचार करने

पर पता चलेगा कि कविता या कोई भी कलात्मक कृति कुछ भी किसी के लिये नहीं करती ही पर कवि के लिये तो कुछ करती ही है। करती तो है वह पाठक के लिये भी पर ऐसी विशिष्ट परिस्थिति की कल्पना की जा सकती है जिसमें उसका पाठक से कुछ भी सम्बन्ध न हो। ऐसा हो सकता है कि सृजन करते समय वही व्यक्ति स्रष्टा है, पढ़ने के समय वही व्यक्ति पाठक है। आप चाहें तो पाठक के अस्तित्व को मिटाकर उसे स्रष्टा में मिला सकते हैं। पर स्रष्टा के अस्तित्व का लोप करना कठिन होगा। यह आपको मानना पड़ेगा कि कविता स्रष्टा के लिये कुछ कर रही है। स्रष्टा के सामने एक परिस्थिति है, एक चुनौती है, एक ललकार है जिसका सामना वह कविता की Strategy से कर रहा है।

कहा तो यह भी जा सकता है कि स्रष्टा के अस्तित्व को भी मिटाया जा सकता है, उसे भी मार कर मार्ग साफ किया जा सकता है। कल्पना कीजिये, अक्षरों को आप यों ही आसमान में उछाल रहे हैं, और वे अक्षर इस तरह जमीन पर गिरते हैं कि वहां सार्थक वाक्यों का रूप धारण कर लेते हैं और वहां कविता भी बन जाती है। किसी ने ऐसा प्रयोग करके देखा है या नहीं यह तो ज्ञात नहीं। पर यह तो देखा गया है कि कोई कीड़ा काठ को काट रहा हो—काटते काटते एक ऐसी अवस्था भी आ सकती है कि वहां पर 'गुणाक्षर न्याय' से राम नाम बन जाय। उसी तरह 'न किंचिदपि कुर्वाणः से काव्य की सृष्टि हो जाय–इस कल्पना में क्या बाधा है? बाधा तो नहीं है पर इसका निवारण यह कहकर किया जा सकता है, जैसा साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने एक दूसरे प्रसंग में किया था कि 'तदा काव्यस्य विरलत्वं स्यात्' अर्थात् ऐसी अवस्था में कविता नाम की चीज इतनी विरल हो जायेगी कि नहीं के बराबर। तब

उसके बारे में विचार करना ही व्यर्थ है। हमारे सामने काव्य का इतना बड़ा स्तूप उपस्थित है उसी को ध्यान में रखकर विचार करना है।

अतः हमें उस प्रश्न की खोज करनी है, कविता जिसका उत्तर है। उस परिस्थिति का पता चलाना है कविता जिसका सामना अपनी Strategy से कर रही है। आलोचकों का एक दल ऐसा है जो प्रश्न को न देखकर उत्तर को देखता है। यदि उत्तर अपने में ठीक है तो वह आगे न बढ़ेगा। वह देख लेगा काव्य में प्रयुक्त अलंकार को, छन्द को, वाक्य सौष्ठव को और संतुष्ट हो जायेगा। आजकल जिसे Neoclassic Criticism कहते हैं—उसका पूरा जोर इसी तरह की आलोचना पर है। पर उत्तर मात्र से संतुष्ट हो जाने वाले व्यक्ति में कहीं न कहीं साहस का अभाव है, वह खतरे से डरता है और कतराकर निकल जाना चाहता है।

परिस्थितियां भी कितनी तरह की हो सकती हैं परन्तु हम अपनी सुविधा के लिये उन्हें दो वर्गों में विभक्त कर लेंगे। आन्तरिक या बाह्य, आत्मनिष्ठ और बहिर्निष्ठ, Subjective और Objective पहले का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तित्व से है और दूसरे का सम्बन्ध व्यक्तित्वेतर बातों से है अर्थात् वे सब बातें जिन पर व्यक्ति का नियन्त्रण नहीं है। वे हैं और उनका रहना सही है। यदि हम मनोविज्ञान के शब्दों में कहें तो उन्हें Stimulus कह सकते हैं। किसी Stimulus के सम्पर्क में आकर सचेतन प्राणी प्रतिक्रिया-तत्पर होता है। Stimulus का स्वरूप तो नियत है उसमें किसी तरह का मतभेद नहीं हो सकता परन्तु प्रक्रिया के स्वरूप में बहुत विभिन्नता आ जाती है। एक ही वस्तु को देखकर भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न तरह की प्रतिक्रियाएं करता है। इन प्रतिक्रियाओं

के स्वरूप में जो विभिन्नता आ जाती है उसके मूल में मनुष्य की आत्म-निष्ठता ही है। कुछ कारण विशेष के चलते प्रत्येक मनुष्य की मानसिक प्रवृत्ति ऐसी हो जाती है जो प्रतिक्रिया के स्वरूप के निश्चित करने में सहायक होती है।

उदाहरणार्थ, कल्पना कीजिये कि एक निस्तब्ध निशीथ में, जिस वक्त सारा आलम सोया हुआ है, पत्थर के बोझ से भरी हुई एक बड़ी लारी कर्कश आवाज करती हुई हमारी सड़क से होकर निकल गई। उस सड़क के किनारे जो बड़े बड़े महल खड़े हैं उनमें हजारों आदमी सोये हैं, निद्रा में लीन हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जिन पर लारी की आवाज का कुछ भी असर नहीं पड़ा। उनको पता भी नहीं कि लारी सड़क पर होकर गई भी है या नहीं। दूसरे व्यक्ति की नींद थोड़ी सी टूटी और वह जरा सा करवट लेकर पुनः नींद में लीन हो गया। तीसरा व्यक्ति सैनिक है जो अभी युद्ध के मोर्चे पर से कुछ दिन की छुट्टी पर आया है। वह सपने में देखता है कि एक हवाई जहाज बड़े ज़ोर से आवाज करता हुआ Crash कर गया। एक बेचारी महिला है जो किसी न किसी तरह पेट काट कर अपने परिवार का खर्च चला रही है। वह सपने में देखती है कि चाय लाते समय नौकर को ठेस लग गई और इसके कारण चीनी के सारे बर्तन झनझना कर गिर पड़े और चूर-चूर हो गये। एक हमारे विद्यार्थी हैं जो विद्यार्थी-संघ के अध्यक्ष पद के लिये चुनाव लड़ रहे हैं। उन्होंने सपना देखा कि प्रचार करने वाले उनके छोटे से पैम्फलेट ने एक बड़े पंजे का रूप धारण कर लिया और वह बढ़कर उनके प्रतिद्वन्द्वी के गाल पर जा कर सटाक से लगा। बाद में तुरन्त एक राकेट का रूप धारण कर कालेज भवन के चारों तरफ चक्कर मारने लगा, Whirl करने लगा।

इन सब उदाहरणों पर ध्यान देने से यही पता चलता है कि Stimulus तो एक ही है अर्थात् पत्थरों से भरी हुई लारी या उसकी कर्कश ध्वनि। परन्तु इसके कारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में जिन स्वप्नों की सृष्टि हुई उनके स्वरूप में कितनी विभिन्नता है ? इससे हम क्या निष्कर्ष निकालते हैं ? एक ही चीज में इतनी भिन्न चोजों के उत्पन्न करने की शक्ति कहाँ से आई ? स्पष्ट है कि इसका रहस्य बाहरी उत्तेजक पदार्थ में नहीं पर उस व्यक्ति में है जिस पर Stimulus का आघात हुआ है और जिसने उस आघात को अपनी मनस्थिति के अनुकूल ग्रहण किया है। इससे हम यह भी परिणाम निकाल सकते हैं कि बाहरी उत्तेजक पदार्थ की प्रतिक्रिया सदा व्यक्ति के व्यक्तित्व रूपी रंग में रंग कर ही उपस्थित हो सकती है।

यदि पुरुष और प्रकृति के शब्दों में हम समझना चाहें तो यह कह सकते हैं कि बाहरी पदार्थ का स्थान साहित्यिक या किसी भी रचनात्मक प्रक्रिया में वही है जो विश्वसृष्टि में पुरुष का है। पुरुष तटस्थ साक्षी होता है, निष्क्रिय होता है, उसका काम प्रकृति में एक हलचल पैदा कर देना है। काम कर अर्थात् थोड़ी सी गति पैदा कर वह चुप हो जाता है। आगे के विश्व-सृजन का सारा काम प्रकृति कर लेती है। उसी तरह वस्तु-रूपी बाहरी Stimulus मन को सक्रिय तो कर देता है जरूर, और इस अंश तक उसके महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता, परन्तु रचना को वास्तविक महत्त्व की वस्तु बनाने में व्यक्ति का ही अधिक हाथ रहता है। इसी तरह हम कहेंगे कि बाहरी रूप में तो हम पर प्रभाव डालने वाले संसार तथा संसार के अनेक पदार्थ हैं ही परन्तु उन्हें कलावस्तु या रचनावस्तु बनाने का श्रेय बहुत कुछ मनुष्य के व्यक्तित्व को है। यदि उसके व्यक्तित्व

में कोई शक्ति नहीं है तो संसार के सारे पदार्थ यों ही धरे के धरे रह जा सकते हैं। उसी तरह जैसे ऊपर के उदहारण में इतनी बड़ी लारी धूम मचाती हुई सड़क के इस पार से उस पार चली गई परन्तु कुछ लोगों के कानों पर जूं तक नहीं रेंगी। पर कुछ लोगों ने न जाने कितने विभिन्न संसार की रचना कर डाली।

मैं साहित्यिक प्रक्रिया में बाहरी पदार्थ के महत्त्व को अस्वीकार नहीं करता। भट्ट लोलट्ट या रामचन्द्र शुक्ल या Mathew Arnold ने जब बाह्य वस्तु के महत्त्व को बताया और कहा कि उच्च कोटि की कविता के लिये महत्त्वपूर्ण विषय का होना आवश्यक है (राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जाय सहज सभाव्य है) तो मैं उनके कथन की गुरुता को महसूस करता हूं। मेरा भी ख्याल है कि विषय वस्तु को महत्त्व-पूर्ण होना चाहिये। यदि विषय महत्त्वपूर्ण नहीं है तो कविता उच्च कोटि की नहीं हो सकती। पर प्रश्न यह है कि इस महत्वपूर्ण का अर्थ क्या है? महत्त्व कहाँ निवास करता है? वस्तु के वस्तु रूप में? वस्तु qua वस्तु में? नहीं। महत्त्व रहता है वस्तु के प्रभाव में।

एक वित्ते भर भूमि का क्या महत्त्व है? उसमें एक पाव अन्न भी नहीं उपजाया जा सकता। पर उसी के लिये हजारों व्यक्ति अपने प्राणों की आहुति दे सकते हैं। राष्ट्रीय ध्वज या राष्ट्रीय गान अपने में तो एक गज कपड़ा या कुछ शब्दों के मेल के सिवा कुछ नहीं, पर जब आखों या कानों की राह से यह हृदय-रंध्र में प्रवेश करता है तो कितना अमूल्य एवं शक्तिशाली हो जाता है? सम्भव है किसी महात्मा की दिव्य वाणी को हम अनसुनी कर दें पर एक दुखिया, निरीह तथा तुच्छ सी विधवा की आह हमारे

प्राणों में हजारों हाथियों की शक्ति समन्वित कर दे। कहने का अर्थ यह है कि वस्तु चाहे वह कितनी ही महान् हो पर सृजनात्मक दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण है उसका प्रभाव। जो चीज हम पर प्रभाव डाले वही महत्त्वपूर्ण है। साधारण समीकरण तो यही समझा जाता है कि महान वस्तु-महान प्रभाव। पर साहित्य में इसके विपरीत यह भी हो सकता है महान प्रभाव=महान वस्तु।

रघुवंश के रघु के गोचारण वाली कथा किसे मालूम नहीं ? व्याघ्र नन्दिनी को दबोच लेता है और उसे अपना ग्रास बनाकर अपनी क्षुधा-तृप्ति करना चाहता है। रघु के हस्ताक्षेप करने पर यही कहता है कि यदि गौ के बदले तुम अपने को मेरे भोजन के लिये समर्पित कर दो तो नन्दिनी को छुटकारा मिल सकता है। बस क्या था ? रघु तैयार हो जाते हैं। व्याघ्र रघु को बहुत समझाता है, कहता है कि ऐसी मूढ़ता न करो।

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च
अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचार-मूढः प्रतिभासि मे त्वं ।।
भूतानुकम्पा तवचेदियं गोरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते
जीवन्पुनः शाश्वतदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि ।।

ठीक तो है, व्याघ्र का कहना क्या बुरा था ? एक छोटी सी गाय के लिए अपने चक्रवर्तित्व, अपने यौवन तथा कान्त शरीर को नष्ट कर देना विचार-मूढता नहीं तो क्या है ? अपना नाश कर रघु बहुत करते तो एक गाय की रक्षा करने में समर्थ होते। अपने को नष्ट कर इतने बड़े प्रजावर्ग के जीवन की रक्षा का ख्याल न रखना इसमें कौन सा तुक है ?

पर आप लाख समझावें, रघु आपकी बात मानने को तैयार नहीं। इसका कारण क्या है ? यही न, कि गाय तो है छोटी सी ही परन्तु रघु के मानस पटल पर या हृदय-पटल पर आकर वह विश्व की सारी विभूति से भी श्रेष्ठतर हो गई। इसीलिए कहता हूं कि साहित्य की प्रक्रिया में व्यक्तित्व का बहुत महत्त्व होता है।

अतः, यह निश्चित है कि साहित्य में या कला में हम सब को छोड़ सकते हैं पर व्यक्ति को नहीं छोड़ सकते। व्यक्ति किसी न किसी भांति साहित्य में आ ही जाता है। ऐसा भी सम्भव है कि लेखक-व्यक्ति को इस बात का पता भी न हो और वह चाहता भी हो कि उसके व्यक्तित्व के सम्पर्क से उसका साहित्य लांछित न हो। पर इसके बावजूद भी साहित्य में वह आकर ही रहेगा। उसी तरह जिस तरह Censor तथा Ego के लाख विरोधों के रहते भी मनुष्य की अचेतन प्रेरणा उसके व्यवहारों को प्रभावित करती ही है। चाहे उन आन्तरिक प्रेरणाओं के स्वरूप को पहचानने के लिए हमें बहुत सतर्कता से और छानबीन से काम लेना पड़े। स्वप्नतन्त्र का थोड़ा सा भी ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को यह मालूम है कि स्वप्न के बाहरी रूप में अर्थात् Manifest Content में उसको प्रेरित करने वाला आन्तरिक रूप छिपा रहता है जिसे Latent Content कहते हैं और यह Latent Content ही स्वप्नतन्त्र का सार-तत्व और प्रेरक वस्तु है।

किसी कविता में मनुष्य के व्यक्तित्व की बात-व्यक्तित्व ही नहीं उसकी व्यक्तिगत बात किस तरह रूप बदल कर आ जाती है इसका एक उदाहरण L.A.G. Strong ने अपनी पुस्तक Personal Remarks

के "The poet and Reality"......................नामक लेख में दिया है। उनकी एक कविता है जो बाहरी रूप से तो देखने में बहुत आकर्षक नहीं है। उसमें कोई विशिष्टता भी नहीं दिखलाई पड़ती परन्तु किसी न किसी रहस्यमय कारण से वह पाठकों को अधिक प्रिय रही है और प्रत्येक संग्रह में उसे आदरणीय स्थान मिला है। कवि को भी प्रारंभ में इस कविता में कोई विशेष महत्व की बात नहीं मिली थी परन्तु बाद में, कुछ वर्षों के बाद जब उसने कविता पढ़ी और विचार किया तो उसका रहस्य खुलने लगा। कविता यों है:—

I turned and gave my strength to woman
Leaving untilled the stubborn field.
Sinew and soul are gone to win her,
Slow, and most perilous her yield.

The son I got stood up beside me,
With fire and quiet beauty filled,
He looked upon me, then he looked
Upon the field I had not tilled.

He kissed me, and went forth to labour
Where lonely tilth and moorland meet
A gull above the ploughshare hears
The ironic song of our defeat.

कवि ने स्वयं इस कविता की प्रतीकात्मकता को समझाने की कोशिश की है। प्रतीकात्मकता से मेरा मतलब उन व्यक्तिगत घटनाओं से है जिन्होंने किसी रासायनिक प्रक्रिया के प्रभाव में आकर इस कविता का रूप धारण लिया है। वे लिखते हैं कि जिस समय कविता लिखी गई थी उस

समय मैं एक लड़की के प्रेम में था जो मुझ पर सर्वाधिकार चाहती थी। उसे जरा भी पसन्द नहीं था कि मैं उसका ध्यान छोड़कर दूसरी किसी वस्तु पर ध्यान लगाऊं। मैं यह समझ गया था कि यदि इस लड़की से मेरा विवाह हो गया तो मैं जो कुछ भी रचनात्मक कार्य कर रहा हूं उसे पूरा करने में सफल न हो सकूंगा और बहुत से काम अधूरे रह जायेंगे। वही लड़की हमारी कविता का उपजीव्य है। और कविता में जो Untilled the stubborn field है वह मेरा अधूरा कार्य है जिसे मैंने छोड़ दिया है। इस विवाह का परिणाम क्या होगा ? वह सन्तान जिसमें उसकी मां का सारा तेज और सौन्दर्य संभावित रहेगा (with fire and quiet beauty filled) मुझे अपने अधूरे कार्य के लिए कोसेगी (The field I had not tilled) और वह आगे बढ़ कर उस कार्य को पूरा करेगी। (He Kissed me and went forth to labour)

इस कविता के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि के अन्तर्पटल पर सारा चित्र, सारे प्रतीक और सारा स्वप्न-तन्त्र वर्तमान था। वास्तव में यह कविता और कुछ नहीं अचेतन मन के द्वारा चेतन मन के पास प्राण-रक्षा के लिए लिखा गया अत्यन्त आवश्यक पत्र (S. O. S.) है, और कहता है कि मूर्ख ! सावधान इस लड़की से विवाह कर तुम्हारा जीवन कभी भी सुखी नहीं होगा।

अतः, मेरे विचार में किसी कविता या कला-वस्तु पर विचार करते समय यही ध्यान में रखना चाहिए कि वह किसी न किसी तरह कवि के किसी निजी उद्देश्य की सिद्धि कर रही है। यह कोई आवश्यक नहीं कि

कवि के जिस उद्देश्य की सिद्धि कविता द्वारा हो रही है उसी उद्देश्य की सिद्धि पाठक के लिए भी हो । हां, पाठक और कवि दोनों के समान उद्देश्य की सिद्धि हो यह संभव तो है पर कोई अनिवार्य नहीं। पाठक और कवि दोनों में सामानाधिकरण्य हो और वे समान-धर्मी हों यह सदा ही आवश्यक नहीं। यह भी आवश्यक नहीं कि पाठक के किसी उद्देश्य की सिद्धि हो ही। संभव है कि पाठक के लिए वह कविता बोधगम्य हो ही नहीं और हो भी तो उसके ऊपर ही ऊपर तैरते हुए निकल जाय, उस पर जरा भी प्रभाव न डाले। पर यह संभव नहीं कि कवि के लिए वह किसी भांति अभीष्ट-साधक न हो।

कवि के लिए जिस अभीष्ट की सिद्धि कविता करती है उसमें भी कोई अलौकिकता या चमत्कार नहीं है। कविता कोई अलौकिक व्यापार है भी नहीं। हंसना, रोना, क्रोध करना, द्वेष करना इत्यादि दैनिक व्यापारों की तरह वह भी एक जैविक कार्य है। मान लीजिए कि राज-नैतिक क्षेत्र में आपका कोई प्रतिद्वन्द्वी है। आप हर तरह से उसको पराजित करना चाहते हैं। आप इसके लिए दो स्तर पर सक्रिय हो सकते हैं, मान-सिक और शारीरिक। मानसिक स्तर को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है मृदु और उग्र। यदि आप मृदु स्तर पर हैं और आपको अपने प्रतिद्वन्द्वी की याद आ गई तो आप एक कविता लिखेंगे जो होगी तो किसी सैद्धान्तिक विषय पर ही, बातें भी बड़े मज़े मज़े में मृदु स्वर में कही जायेंगी परन्तु उनमें ऐसा overtone होगा, ऐसी ध्वनि होगी, जिससे स्पष्ट होगा कि उसका संकेत क्या है और किस ओर है? आप कत्ल तो कर रहे हैं पर ऐसा न लगेगा कि आप हाथ में तलवार ले रहे हैं। कहना नहीं होगा कि आप एक उत्तम ध्वनि काव्य लिख रहे हैं।

यदि आप उस स्तर से थोड़ा और नीचे उतरते हैं जिसे हमने उग्र कहा है तो आप कविता तो लिखेंगे पर आप की शैली इतनी तीक्ष्ण हो जायेगी कि आप की तलवार म्यान से निकलती दीखने लगेगी। बस आप शारीरिक स्तर पर आ ही रहे हैं। यह गुणी-भूत व्यंग्य का स्तर है। पहली स्थिति में आप तुलसी हैं, दूसरी स्थिति में लक्कड़तोड़ शैली के प्रयोक्ता कबीर अथवा कर्मचारी की चिन्ता करने वाले मदन वात्स्यायन। अब आप शारीरिक स्तर पर आते हैं। जब आप इस स्तर पर उतर पड़े हैं और आपके सामने किसी ने आपके प्रतिद्वन्द्वी का नाम लिया कि आपने अपना मुंह फेर लिया और जोर से कहा "आक् थू थू"। बस समझ लीजिए कि आपकी कविता यही "आक् थू" है। यही आक् थू है जिसने कविता के अक्षरों का रूप धारण कर लिया है। अन्तर इतना ही है कि 'आक् थू' से जमीन गन्दी हो जाती है पर कविता ऐसी ही है जिससे कागज भी गन्दा नहीं होता।

मैं मनोविज्ञान के आचरणवादी सम्प्रदाय को मानने वाला तो नहीं हूं पर उनके कुछ शब्दों का सहारा अपने मंतव्य के स्पष्टीकरण के लिए अवश्य लूंगा। उसका कहना है कि आचरण (Behaviour) दो तरह के होते हैं बाह्य और आन्तरिक। बाह्य को तो आप देख सकते हैं पर आन्तरिक को नहीं। पर वे भी हैं आचरण ही। आप विचार करते हैं, या सोचते हैं तो उस समय भी आप एक तरह वार्तालाप ही करते हैं, वह भी एक तरह का आचरण ही है। उसी तरह कविता भी आक् थू ही है। भले ही उसकी आवाज नहीं सुनाई पड़ती हो और छींटें न उड़ते हों।

अमेरिका के एक बड़े आलोचक ने किसी कला वस्तु को तीन दृष्टियों

से देखने के लिए कहा है। उनके मतानुसार किसी भी रचना में तीन तत्वों का समावेश रहता है। स्वप्न (Dream element), प्रार्थना (Prayer) तथा वस्तु स्थितिअङ्कन (Chart)। स्वप्न तत्व से हमारा अभिप्राय अचेतन तत्व से है। ऊपर जो अंग्रेजी की कविता उद्धृत की गई है उसमें अचेतन के द्वारा चेतन की सेवा में लिखे गये [S.O.S.] ही अचेतन या स्वप्न तत्व हैं। वही सारी कविता को अनुप्राणित कर रहा है चाहे स्वयं कवि को भी मालूम न हो। कवि से हमारा मतलब उस व्यक्ति से है जो हाथ में कलम लेकर कागज पर कलेजे को उतारता है। व्यक्ति के उस अंश से नहीं जहां पर सर्वप्रथम एक विक्षोभ, हलचल, या स्पंदन होता है। जो ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि सर्वथा अज्ञात होता है, जिसका कुछ भी भान नहीं होता पर इतना अवश्य है कि वह ज्ञान शब्दातीत है, मात्र संवेद्य है, कहने सुनने लायक नहीं होता। उसका आविर्भाव मनो-मय कोष से जरा नीचे गहराई में ही होता है।

प्रश्न यह है कि इस स्वप्नतत्व का पता कैसे चले और इस बात की जांच कैसे की जाय कि इस तत्व ने काव्य के स्वरूप को किस तरह प्रभावित किया है? यह आप नहीं कह सकते कि उस तत्व का ज्ञान होता ही नहीं। ज्ञान तो होता ही है किसी न किसी भांति। यदि ऐसा नहीं होता तो ऊपर वाली उद्धृत अंग्रेजी कविता इतनी प्रिय नहीं होती कि प्रत्येक काव्य संग्रह में स्थान पाती। उसका इस तरह आदरणीय होना ही इस बात का प्रमाण है कि वह लोक हृदय को छू रही है, किसी सपने को जगा रही है। नहीं तो उस कविता में कोई विशेषता तो है नहीं। उसमें जो सपना है वह केवल सपना है किसी चीज का सपना नहीं। इसी लिए वह केवल कवि का नहीं सब का है।

इस बात को, विशेषतः आज के वैज्ञानिक युग में, यह ठीक से समझ लेना चाहिये कि अनुभूति (यहां सपना) तथा अनुभूति के ज्ञान में महान् अन्तर है। एक बार लक्षणा तथा व्यंजना पर विचार करते समय कुछ इसी तरह का प्रश्न मम्मट के सामने उपस्थित हुआ तो उन्होंने यह कर समाधान किया कि—

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्य मुदाहृतम्।
प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः फलंतु प्रकटता संविंतिर्वा

यहाँ पर मेरी कल्पना के अनुसार अनुभूति के ज्ञान की अभिव्यक्ति प्रत्यक्षादेर्नीलादि विषय की अभिव्यक्ति है और अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रगटता अथवा संवित्ति की अभिव्यक्ति। कवि का विषयीभूत पदार्थ अनुभूति या स्वप्न है, किसी चीज की अनुभूति या स्वप्न नहीं। यह तो वैज्ञानिकों या तथाकथित कवियों की वस्तु है—उन कवियों की जो अपने क्षेत्र में विज्ञान को आक्रमण करते देख कर उसी की तरह वेशभूषा बना लेते हैं और इस तरह आक्रमणकारी का कृपा पात्र बनने को चेष्टा करते हैं हालांकि उनके मन में कहीं न कहीं आक्रमणकारी के प्रति आक्रोश के भाव भी रहते है। आज विज्ञान हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर छाता जा रहा है। मनुष्य को भी अपने अधिकार में लेने की चेष्टा कर रहा है और उसे यंत्र बना देना चाहता है।

१६ वीं शताब्दी से ही विज्ञान का अभियान प्रारम्भ हुआ तब से उसके चरण निरन्तर गति से बढ़ते ही जा रहे हैं। आज वह हमारे मन और मस्तिष्क पर भी अधिकार करने लगा है। अब तक यही समझा जाता था कि विज्ञान सब कुछ कर सकता है पर सोच विचार नहीं कर सकता।

यही मानवता का अन्तिम गढ़ था जहां पर खदेड़ी जाकर वह शरण ले रही थी और last stand ले रही थी। पर आज वह भी अभेद्य नहीं रह गया है। विज्ञान ने ऐसे यंत्र भी तैयार किए हैं जो सोच सकते हैं, हिसाब किताब रख सकते हैं। ऐसी सूरत में मानव कहां जाकर पनाह ले? कविता ही उसे आश्रय दे सकती है। पर तब कवि तथा कविता को एक बात मान लेनी होगी कि उनका काम ज्ञान-दान नहीं, अनुभूति-दान है। कवि के पास कवि के रूप में ज्ञान नामक एक चुटकी भी चीज नहीं है, सब विज्ञान ने ले लिया है।

कमाई जो बन्दरों की थी मिस्टर ने छीन ली।
सिलाई की फबन..
....
........................एक कल बना के हजरते सिंगर ने छीन ली।

अतः विशेषज्ञों के इस युग में भाव सम्पत्ति ही मानवता के लिए बची रह गई है। पहले जीवन में जब कभी कोई समस्या उठ खड़ी होती थी तो हम तुलसी, सूर या टेनीसन या ब्राउनिंग के पास जाते थे। उनसे परामर्श लेते थे। पर आज हम विशेषज्ञों के पास जायेंगे। अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित होगा तो, मानस प्रक्षुब्ध होगा तो धार्मिक ग्रंथों का अवलोकन न कर मनोविश्लेषक की तलाश करेंगे। पर जब हमारा हृदय प्रणय-स्वप्न की चंचलता पर सर धुन-धुन कर रोने लगेगा तो नेताओं के तर्क बचन हमें आश्वासन नहीं दे सकेंगे। उस समय कवि की भावशक्ति की विशेषता ही हमारे काम आयेगी। भावशक्ति ही, भावशक्ति का ज्ञान नहीं।

जहाँ भावशक्ति रहेगी वहाँ अनुभूति- आ ही जायेगी क्योंकि वह अनुभूति-स्वरूप है। अनुभूति-स्वरूप के स्थान पर स्वप्न तथा स्वप्न स्वरूप भी कह सकते हैं कारण मनुष्य की अनुभूति स्वप्नों की बनी है, आसुओं की

बनी है, उच्छ्वासों की बनी है।

यहां पर एक प्रश्न उठेगा। माना कि कविता में कवि के अन्तर्तत्व, स्वप्न-तत्व या आत्मतत्व रहते हैं पर उनके स्वरूप का पता कैसे चले? इसके लिए कुछ सूत्र तो बताये जा सकते हैं जिनके सहारे कोई धुंधला चित्र उभर कर सामने आ सकता है। पर उस चित्र को पूर्णता देना, उसकी टूटी कड़ियों को जोडने के लिए सूझ-बूझ तथा प्रतिभा की आवश्यकता पड़ती है। साहित्य क्षेत्र के बाहर जाकर भी आलोक को चिन्गारी मांग कर अपनी सहायता करनी पड़ेगी। स्वप्नतन्त्र के जानने वाले जानते हैं कि स्वप्न कितने उलूल जलूल, अव्यवस्थित, अनर्थक, असंबद्ध तथा बे सिर पैर के होते हैं, उनमें कितनी कडियां टूटी होती हैं। यदि आपने थोड़ी सी कल्पना से काम लिया तो सारा रहस्य स्पष्ट हो जाता है।

आपके सामने हमने एक चित्र का ढांचा देखने को दिया। यों तो वह चित्र ठीक ही है पर ऐसा लगता है कि कहीं न कहीं कुछ जरा सी त्रुटि है, कोई अभाव है जिसके कारण वह चित्र जो कुछ होना था नहीं हो पा रहा है। आपने जरा सा एक बिंदु रख दिया। सारा चित्र मानो खिल उठा। ऐसा भी होता है कि मालूम हो कि कहीं एक बिंदी अधिक पड़ गई है जिसके कारण चित्र खुल कर सामने नहीं आ पाता। उसे जरा सा पोंछ दीजिये। यह लो! चित्र सारे वैभव के साथ जगमगाता आपके सामने उपस्थित हो गया। इस संबंध में भवभूति वाली किंवदंती बहुत ही प्रसिद्ध है। भवभूति ने जब उत्तररामचरित नाटक की रचना की तो कालिदास के पास ले गये। वे व्यस्त थे। कहा कि पढ़ कर सुनावो। सुन लेने के पश्चात् कहा कि और सब तो ठीक है केवल प्रथम अंक में "किमपि किमपि मन्दं मन्दं" वाले श्लोक के अन्तिम चरण में जो "रात्रिरेवं व्यरंसीत"

पद आया है उसमें "रेवं" में जो अनुस्वार है उसकी कोई आवश्यकता नहीं। उसे हटा दिया जाय। स्वप्न तन्त्र या काव्यतन्त्र के स्वरूप को पहचानने में भी इस जोड़ तोड़ वाली पद्धति से काम लेना पड़ता है। कालिदास ने तोड़ पद्धति से काम लिया।

एक जोड पद्धति का भी उदाहरण लीजिए। फ्रायड के द्वारा उल्लिखित एक स्वप्न से। स्वप्न यों है। स्वप्न द्रष्टा का चाचा सिगरेट पी रहा है। हालांकि उस दिन शनिवार था-एक स्त्री स्वप्न-द्रष्टा को लाड प्यार कर रही है। इस स्वप्न के सम्बन्ध में और पूछताछ करने पर पता चला कि उसका चाचा बड़ा धर्मात्मा आदमी था। शनिवार को वह सिगरेट पीने जैसा पाप कर्म नहीं कर सकता था। इस वक्त स्वप्न में कोई ऐसी बात तो नहीं है जो बिलकुल बे सिर पैर की मालूम पड़े। परन्तु प्रश्न तो यह है कि चाचा के शनिवार को सिगरेट पीने और स्वप्न द्रष्टा को किसी स्त्री के द्वारा प्यार किये जाने में क्या सम्बन्ध है? कुछ न कुछ सम्बन्ध तो होना ही चाहिए। क्योंकि ये दोनों बातें किसी अन्य बड़ी बात के अंग रूप में ही हैं। कुछ न कुछ ऐसी व्यापक बात होनी चाहिए जिसके बीच में कर इन दोनों टुकड़ों को सार्थकता मिल सके। इसके लिए फ्रायड ने कहा है कि यदि इन दोनों टुकड़ों के बीच में "यदि" शब्द वाक्य संयोजक के रूप में जोड़ दिया जाय तो सारा रहस्य समझ में आजायेगा वह यों होगा। "यदि मेरा चाचा, जो इतना धार्मिक आदमी है, शनिवार को सिगरेट पीने लगे तो मुझे भी मेरी माता लाड प्यार कर सकती है"। अब यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। स्वप्नों में विचारों के सम्बन्ध लुप्त हो जाते हैं, उनकी कड़ियां टूट जाती हैं। अतः स्वप्नों के निर्वाचन करते समय उन्हें फिर से अपने अनुभव और प्रतिभा के बल पर जोड़ना पड़ता है।

मेरा उद्देश्य स्वप्नतंत्र की सारी क्रियाओं और प्रक्रियाओं का उल्लेख करना नहीं है। मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूं कि कविता में भी प्रेरित करने वाली आन्तरिक प्रेरणा की कड़ियों में कहीं कहीं टूट आ जाती है। मैं स्वप्न को और कविता को एक नहीं मानता, परन्तु ये दोनों कुछ दूर तक साथ साथ चल जरूर सकते हैं और जहां तक साथ साथ चल सकते है वहां तक हमें स्वप्नतंत्र के द्वारा कविता तंत्र के समझने में थोड़ी सहायता ले लेनी चाहिए। जिस तरह स्वप्न के निर्वाचन में हम अपनी ओर से कुछ मिलाकर, कुछ घटाकर उसकी सार्थकता को पकड़ते हैं उसी तरह कविता में कवि की मूल प्रेरणाओं को समझ सकने में इस तरह के जोड़ तोड़ से सहायता मिल सकती है।

आप किसी कवि की सारी रचनाओं कों पढ़ें या यदि बहुत ही रच-नाएं उपलब्ध न हों तो एक ही रचना को लीजिए! आप देखेंगे कि उसमें किसी विशेष शब्द का, किसी विशेष उपमा का, किसी विशेष उक्ति का किसी विशेष ढंग से प्रयोग हो रहा है। एक ही कल्पना बार बार आती है। इन सब बातों को देख कर आप किसी न किसी निर्णय पर पहुंच सकते है। और यदि उस निर्णय का समर्थन कवि की जीवनी से या कवि के सम्बन्ध में लिखे गये अन्य लोगों के कथन से अथवा कवि के आत्मोल्लेख से मिल जाता है तो फिर आपको किसी निर्णय पर पहुंचने में बाधा ही किस बात की रह गई? अंग्रेजी साहित्य में इस तरह से बहुत से कवियों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। कालरिज के काव्य का विशेषतः Ancient Mariner नामक कविता का अध्ययन विस्तार पूर्वक इस ढंग से किया गया है और आलोचक इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि कालेरिज की सारी कविताओं की मूल प्रेरणा दो बातों में निहित है

(१) अफीम सेवन की उसकी की बुरी लत
(२) उसक. अपनी पत्नी से कटु सम्बन्ध।

इस तरह का अध्ययन अंग्रेजी साहित्य में ही हो सो बात नहीं। संस्कृत साहित्य में भी मीमांसकों के सामने जब किसी ग्रन्थ के तात्पर्य निर्णय का प्रश्न उपस्थित हुआ तो उन्होंने यही कहा।

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासो पूर्वता फलम्
अर्थवादोपपत्तीच लिंग तात्पर्य निर्णये

अर्थात् किसी ग्रन्थ के प्रारम्भ अन्त, पुनर्रावृत्ति, खण्डन-मण्डन, फल इत्यादि को देख कर ग्रन्थ के तात्पर्य निर्णय में सहायता ली जा सकती है। आज की जो निर्वाचन पद्धति है, चाहे वह स्वप्न सम्बन्धी हो या साहित्य सम्बन्धी, उसके भी सूत्र इस श्लोक में खोजे जा सकते हैं।

इतना ही नहीं, किसी कवि की काव्य-शैली, उसकी बाहरी रूपरेखा, उसकी व्यवस्था-अव्यवस्था, संतुलन-असंतुलन के द्वारा भी उसके सपनों का आभास पाया जा सकता है। यह जाना जा सकता है कि उसके [किसी के] व्यक्तित्व का निर्माण किन वस्तुओं से हुआ है और उसकी आन्तरिक प्रेरणा क्या है? उदाहरण के लिए पोप की कविताओं में एक विचित्र संतुलन है, सारे तुक बड़े कुशलता पूर्वक मिलते दिखलाई पड़ रहे हैं, शब्दों के प्रयोग में दैनिक व्यवहार के शब्द ही आये हैं, मानों तराश पर चढ़ाये हुए हों। कविता कटी छटी चुस्त दुरुस्त है। हिन्दी में द्विवेदी युग की कविता तथा प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी यही बात देखी जा सकती है। क्या यही बात इस बात का प्रमाण नहीं है कि हो न हो ये कवि गण कहीं न कहीं उस समय के पनपते हुए अभिजात वर्ग की बाहरी तहजीब, एटिकेट तथा व्यावहारिक शिष्टाचार की सफाई से प्रभावित थे और मन ही मन उसी वर्ग के सदस्य होने के सपने देख रहे थे।

कता हो। जिस देवता से हम प्रार्थना कर रहे हैं वह हमारी प्रार्थना के स्वरूप को ठीक से समझ सके। कहीं "उलटे बुझल्ह राम" वाली लोकोक्ति चरितार्थ न होने लगे। किसी ने भगवान से प्रार्थना की कि उसके शत्रु का बैल मर जाये। पर उसका ही बैल मर गया। राम कहीं उलटा ही न समझ लें इसलिए प्रार्थना में स्पष्ट प्रेषणीयता लानी पड़ती है, वाणी में दर्द लाना पड़ता है, मुद्रा में दीनता लानी पड़ती है। कविता के शब्द ऐसे होते हैं कि मानस-पटल पर तस्वीर उतर आती है, कलेजे में तीर चुभ जाता है।

हम एक ऐसे युग से गुज़र चुके हैं जिसमें कविता के इस प्रार्थना परक अर्थात् पुरअस्सर, प्रभावोत्पादक रूप के प्रति उदासीनता सी बरती जाती है। १९वीं शताब्दी में विज्ञान ने कविता को बदनाम करने के लिए कितने ही लांछन लगाये। उनमे से एक यह भी था कि कविता अनैतिक immoral होती है। जो लोग विज्ञान से आतंकित थे पर साथ ही कविता का साथ भी देना चाहते थे उनके द्वारा बहुत ही क्षमा-परक रूप में कहा गया कि कविता immoral तो नहीं होती पर हां, a-moral अथवा Unmoral हो तो हो। वह नैतिकता के प्रश्न के प्रति उदासीन होती है। सम्भव है कि उस समय इस तर्क से कविता की प्राण-रक्षा में सहायता मिली हो पर इसने साथ ही कविता को प्राणहीन भी बना दिया। कविता सफेद पड़ गई, पीली पड़ गई, उसमें लाल रक्त की गरमाई न रह गई जो गालों पर चमकता है, वह Cold हो गई। यही T. S. Elliot का युग है और हिन्दी में तार के प्रथम दो सप्तकों का युग।

कारण कविता चाहे जो हो उदासीन नहीं रह सकती। ऊपर ही

ऊपर सहला कर नहीं रह जा सकती। वह तो नुकीली छुरी की तरह कलेजे को चीर देगी। यदि ऐसा नहीं करती तो वह है काहे के लिए? प्रभावोत्पादकता को छोड़ कर वह एक क्षण के लिए टिक नहीं सकती। उसे किसी का पक्ष लेना ही होगा। यदि ऐसा नहीं करती तो वह कविता नहीं, साहित्य नहीं।

फ्लावेयर का "मादाम बौवैरी" नामक उपन्यास जब सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ तो मानों समाज में भूकम्प आ गया। कहा गया कि यह पुस्तक व्यक्तियों को सदाचार-भ्रष्ट बना कर समाज को नाश के गर्त में ढकेलने वाली है। लेखक पर मुकदमा चलाया गया। विरोधी पक्ष की ओर से पैरवी करने वाले वकील ने बड़े भावपूर्ण ढंग से, सब वाक्यों पर उचित ढंग से जोर देते हुए पुस्तक के एक अंश को न्यायाधीश के सामने पढ़कर सुनाया। प्रसंग वह था जहाँ नायिका अपने प्रेमी के सामने निरावरण हो रही है। वहाँ के वर्णन की शैली में एक ऐसा प्रवाह और ऐसी गतिमयता है जिसके द्वारा चीरहरण की क्रिया तथा अपने प्रेमी से मिलने के त्वरावेग की अदम्यता समूर्त हो उठी है। इस प्रसंग को सरकारी वकील ने जितने अच्छे ढंग से पढ़ा उतना ही लेखक के विरुद्ध मुकदमा साबित होता गया क्योंकि अच्छे ढंग से पारायण करने के साथ ही उसके प्रभाव में अभिवृद्धि होती गई।

परन्तु लेखक के पक्ष के वकील ने उसी भूमि पर खड़े होकर उसका उत्तर दिया। उसने उसी अंश को लिया और उसे अपने ढंग से पढ़कर सुनाया। वह पढ़ता था और बीच-बीच में रिमार्क भी करता जाता था। इस तरह उसकी प्रभावोत्पादकता छिन्न भिन्न हो गई। वह साहित्यिक उदाहरण के रूप में नष्ट भ्रष्ट हो गयी, जितना ही उसमें से प्रभाव का ह्रास होता

गया उतना हो फ्लावर का पक्ष मजबूत होता गया। मेरे कहने का अर्थ यह है कि काव्य में प्रभावोत्पादकता, संप्रेषणीयता का रहना आवश्यक है। पर इस संप्रेषणीयता में भी एक ऐसी चीज हो सकती है जो बड़े ही सूक्ष्म ढंग से अचेतन मौलिक प्रेरणाओं की झलक दिखला रही हो।

एक क्षण के लिए आप भिन्न-भिन्न कवियों के भाव प्रकाशन के ढंग पर विचार कीजिये। जाने दीजिये भिन्न-भिन्न कवियों को। आधुनिक काव्य पर ही विचार कीजिये। इन कविताओं के पढ़ने से आपको क्या यह पता नहीं चलता कि ये चाक्षुष हैं, कार्ण नहीं। ये आंख से पढ़ने के लिए लिखी गई है, कान से सुनने के लिए नहीं। प्रायः होता यह है कि जब हम पढ़ते हैं तो कान से सुनते भी चलते है। पर इन कविताओं की अपील आंखों तक ही है, केवल आंखों से ही पढ़ कर इनका आनन्द लिया जा सकता है। आपको कानों को मूंद लेना होगा। यदि आप कान खोल कर इनको पढ़ते हे तो आपको हृदय के धड़कने की बिमारी हो सकती है। आज जो लोग नई कविता की शैली पर झुंझलाते है उनको हृदय धड़कने की बीमारी हो जाती है क्योंकि उन्होंने अभी तक अपने कानों को अलग रख छोड़ने की कला नहीं सीखी है। उनकी हालत उस दुर्योधन की तरह है जो भ्रमवश स्थल पर जल देख लेता है और पार करने के लिए अपने कपड़े संभालने लगता है तो द्रौपदी हंस पड़ती है। आज कविता की शैली उन व्यक्तियों की शैली है जिनके कार्य अशरीरी हो चुके हैं अर्थात् जिनका जीवन निर्वाह शारीरिक परिश्रम पर नहीं होता, जो बैठ कर काम ज्यादा करते है, Sedentary occupasion के व्यक्ति हैं, जिनकी अभिव्यक्ति शारीरिक कार्यों का रूप नहीं ग्रहण करती जिस तरह पुराने आदिम काल में पत्थर काटते हुए

नीग्रो के मुख से कविता फूट पड़ती थी। कहने का अर्थ यह है कि साहित्यिक अभिव्यक्ति के बाह्य रूप में भी कवि का व्यक्तित्व काम करता रहता है।

काव्य का तीसरा स्तर Charting का है, वस्तु स्थिति आंकलन का है। कविता ही नहीं जहाँ भी भाषण है, शब्दों का व्यवहार है, वहाँ वस्तु के स्वायत्त करने की भावना है। भाषा वैज्ञानिकों की कल्पना है कि भाषा की उत्पत्ति में स्वेतर वस्तुओं पर अधिकार करने की भावना मूल रूप से काम करती होगी। अर्थात् लोगों के अन्दर यह विश्वास काम करता होगा कि किसी वस्तु के नामकरण कर देने से उसे किसी संज्ञा में बांध देने से, उस पर अधिकार करना सहज हो जाता है। ऐसी दंतकथाओं की कमी नहीं जिनमें यह बताया गया है कि कवि ने आकाश बाँध दिया, पाताल बाँध दिया, वायु की गति रोक दी। कविता के द्वारा मेंह वर्षा दिये। इसमें केवल आवश्यकता इस बात की थी कि अभिवांछित वस्तु को उसके ठीक-ठीक नाम से पुकारा जाए। यदि जिस नाम का वह पात्र है उस नाम से आपने पुकारा तो उसे अपने वश में कर लेना कोई कठिन बात नहीं है। प्रकारान्तर से यहाँ इस बात की भी आवश्यकता पड़ती थी कि जिस व्यक्ति, वस्तु या व्यक्ति को नाम लेकर पुकारना है उसका चित्र भी आपके मानस पटल पर स्पष्ट रूप से अंकित हो। यदि ऐसा नहीं है। तो आप ठीक नाम नहीं दे सकेंगे और तब आपकी बातों में असर नहीं होगा। अर्थात् उस परिस्थिति का आप ठीक से Charting नहीं कर सकेंगे।

वास्तव में देखा जाए तो अपनी सारी जटिलताओं के बावजूद और आलोचकों के द्वारा अपने समर्थन में जो तर्क दिये गये हैं उनके बावजूद भी आधुनिक कविता का मुख्य ध्येय यही है। आज की कविता भावों या विचारों की नहीं है, शब्दों की है और शब्द भी ऐसे

जिन्हें Mot just कहा गया हैं, जिनके स्थान पर दूसरे शब्दों को नहीं रखा जा सकता है। कविता अभिव्यक्ति की समस्या से उलझ रहीं है तो आज की कविता में दुरूहता तथा अबोधगम्यता का दोषारोपण किया जाता है। वास्तव में आज की कविता कठिन है और जल्दी समझ में नहीं आती। इसका कारण यह नहीं कि कवि अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक नहीं है। बल्कि वह अति जागरूक है और अपने वक्तव्य को पूरी सच्चाई के साथ अभिव्यक्त करना चाहता है। इसीलिए वह कठिन-सी प्रतीत होती है। जहाँ तक कविता के ध्येय का प्रश्न है इसमें कोई मतभेद नहीं है। कवि भला क्यों चाहने लगा कि उसकी कविता अस्पष्ट हो। उसका एक-एक कामा या सेमिकोलन अथवा उसका काव्य शिल्प का भूगोल अथवा शब्दों की तोड़ मरोड़ सब में कुछ न कुछ सार्थकता है और वे अपने अन्दर बहुत बड़े दाह को लेकर उमड़ रहे हैं। पहले के कवियों के काव्य में से यदि बहुत कुछ शब्दों को निकाल दिया जाय या इन्हें इधर उधर बैठा दिया जाए तो भी कोई हानि होंने वाली नहीं थी। पर आज की कविता इस तरह के हस्तक्षेप को गवारा नहीं कर सकती। अर्थात् आज की कविता या साहित्य पहले की ही तरह किसी परिस्थिति विशेष Charting करने में व्यस्त है।

Imagist सम्प्रदाय के कवियों ने जो काव्य सम्बन्धी कुछ नियम अपनाये थे उनका भी उद्देश्य यही था। उनके कुछ सूत्र ये थे।

[१] वस्तु का साक्षात् चित्रण (Direct treatment of the thing)।

[२] किसी ऐसे शब्द का सर्वथा परित्याग जिससे वस्तु के चित्रण में

किसी तरह की सहायता न मिले। (To use absolutely no word that did not contribute to the presentation).

[३] रचना का निर्माण संगीत की गति पर हो, घण्टा ध्वनि के अनुसार नहीं। (To compose in Sequence of musical phrase, not in sequence of metrotone.)

[४] कोई व्यर्थ शब्द और कोई विशेषण जो किसी चीज को प्रकाश में नहीं लाता है उसका व्यवहार न किया जाये तथा अमूर्तता से डरा जाये।

इन सब बातों से क्या पता चलता है ? यही कि कविता वस्तु को पकड़ कर इतना आत्मसात् कर लेना चाहती है कि उस पर उसका अधिकार हो जाये। अर्थात् कविता एक तरफ से उस मार्ग की ओर अग्रसर हो रही है जिस पर चल कर मंत्रों के अधिनायकवाद तक पहुंचा जा सकता है। हां, यह स्वीकार किया जा सकता है कि यह राह खतरे से खाली नहीं है। पर प्रश्न यह उठता हैं कि कौन सी राह निरापद है। खतरे से बचने का काम हमें मानवता की सहज बुद्धि पर ही छोड़ देना चाहिए। मनुष्य में सहज बुद्धि होती हैं जो उसे बतला देती है कि बस और आगे नहीं। अब थोड़ा मुड़कर देखना होगा।

तिस पर भी हिन्दी काव्य पर तो इस तरह का दोषारोपण किया ही नहीं जा सकता। हिन्दी के साहित्यकारों की प्रज्ञा पूर्णरूप मे जागरित है और उन्होंने किसी भी आंधी या तूफान में अंगद के चरण की तरह अपने को स्थिर रखा है। उन्होंने कभी भी अपने को उन अतिवादिताओ का

शिकार होने नहीं दिया है जिसके फेर में पड़ कर पाश्चात्य कवियों ने कविता को Cross Word Puzzle बना दिया है। तार सप्तक के तीनों भागों को देखें और इधर के १५-२० वर्षों के आधुनिक हिन्दी काव्य की दिशा को, उन्हें सूचक मान लें तो स्पष्ट है कि अब आधुनिक हिन्दी काव्य में भी स्थिरता आ रही है। सफाई आ रही है। इनके समझने में इतनी कठिनाई नहीं होती। प्रथम तार सप्तक की कवितायें जरूर कुछ अजीब सी, कठिन सी और दूरूह सी लग रही थीं पर इनमें भी हिन्दी कवियों ने एक स्तर का निबाह किया था जिसके नीचे वे नहीं आये। तीसरे सप्तक की कविता तो अब ऐसी मालूम पड़ती है जैसे पहले का आन्दोलित जल अब स्थिर हो गया हो, साफ हो गया हो और मल नीचे जम कर बैठ गया हो।

खैर, ऊपर जो काव्य में तीन तत्वों के ढूंढने की जो बात कही गई है उन में सबसे प्रधान तत्व स्वप्नत्व की ही है अर्थात् कवि के आन्तरिक व्यक्तित्व की। अर्थात् उसके व्यक्तित्व का वह स्तर जहाँ पर एक अविज्ञात शब्दातीत, पकड़ और समझ में नहीं आने वाला परन्तु बाहर आने के लिए बेताब रहने वाला सल्का सा कम्पन होता है उसी को हमें काव्य में देखने की चेष्टा करनी चाहिए। वह तो किसी न किसी तरह झलक देता ही है, प्रगटित होता ही है। केवल देखने के लिए आंख चाहिए। यदि इन आंखों की साधना की जाए तो कविता में उस तत्व का दीदार हो जाना कठिन नहीं है। आज जो कविता में एक भाव-भंगी का टेढ़ापन है, वक्रता है, उपप्लव है, क्या उस से कवि की आन्तरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं होती। क्या किसी हरस्यमय ढंग से वह कवि निरावरण रुप में आपके सामने नहीं आ जाता।

साहित्य
नहीं
साहित्यकार

साहित्य के मूल्यांकन की समस्या सदा जटिल रही है। साधारण पाठक जब आलोचना की अन्योन्यस्फालभिन्नद्विपरुधिरवसामांस-मस्तिष्कपंक रणक्षेत्र में उपरिकृतपदन्यासविक्रान्त सेना पतियों को स्फीतासृक्पानगोष्टीरसदशिवशिवातूर्यनृत्कबन्धों को देखता है और देखता है कि कहीं प्लेटो की काया क्षत विक्षत पड़ी कराह रही है, कहीं अरस्तू तथा लांगिनस निशस्त्र हो कर अपनी अंतिम सांस ले रहे हैं, पोप, ड्राइडन तथा जानसन को पकड़ कर हथकड़ी डाली जा रही है, आर्नल्ड पर मुश्कें कसी जा रही हैं, मम्मट, विश्वनाथ, तथा पंडितराज जगन्नाथ मुष्टामुष्टि तथा केशाकेशि गदाघात में प्रवृत्त हैं तो उसका रहा सहा धैर्य भी जाता रहता है। मम्मट के काव्य विषयक लक्षण को विश्वनाथ ने किस सूक्ष्मता के साथ खण्ड–खण्ड कर दिया है, महोपाध्याय खुरफहम 'सिद्धि चन्द्रगणि' ने तो 'काव्य प्रकाश खण्डन' की रचना कर मम्मट की धज्जी-धज्जी ही उड़ा दी है। जगन्नाथ की रमणीयता ने तो विश्वनाथ के रसात्मक वाक्य को मुंह दिखलाने लायक भी नहीं रहने दिया है।

पाठक इस चक्रव्यूह में पड़कर हताश हो जाता है। क्यों हो जाता है? उसके हताश होने का क्या कारण है? क्या उसे हताश होना चाहिए? नहीं, यदि वह हताश होता है तो इसका कारण यह है कि पाठक, पाठक के रूप में, अपने उत्तरदायित्व को महसूस नहीं करता। किसी भी काव्य प्रक्रिया में तीन पक्ष होते हैं। कवि, काव्य और पाठक। इसी त्रिपुटी को लेकर काव्य की प्रक्रिया पूर्णता को प्राप्त करती हैं। कवि काव्य की रचना भले ही करे पर उसकी निर्मिति का साफल्य पाठक के ग्रहणशील तथा संवेदनशील हृदय में ही होता है। पाठक तटस्थ तथा निष्क्रिय द्रष्टामात्र नहीं होता। उसे सक्रिय रहना चाहिए। उसे अपनी ओर से भी देने के लिए तैयार रहना चाहिए। वह उतना ही पा सकेगा जितना वह देगा।

यहाँ हम आलोचना अथवा आलोचनात्मक विचारों को भी काव्य मान लेते हैं। आखिर आलोचना भी विधायक निर्मिति ही है, इसमें भी व्यक्ति का व्यक्तित्व रहता ही है। अतः, इसे काव्य का स्थानापन्न मान लेने में कोई हानि नहीं। क्योंकि आलोचना लिखते समय मानस की अवस्था वही होती है जो काव्य का निर्माण करते समय कवि की। जब तक आलोचक आलोच्य रचना या वस्तु से प्रभावित नहीं होता, स्फूर्त नहीं होता उसका बिम्ब ग्रहण नहीं करता तब तक उसकी आलोचना में प्राणवत्ता नहीं आ सकती। अतः आलोचना हो, कहानी हो अथवा काव्य हो हमें देखना यही चाहिए कि इसके पीछे काम करने वाला मस्तिष्क-कितना महान है? हम उसके मत से सहमत भले ही न हो, जिस मत या सिद्धांत का उल्लेख किया गया है, वह हमारी मान्यताओं से बिलकुल विपरीत हो फिर भी जिस सशक्त तथा कुशल ढंग से हमारा विरोध किया

जा रहा है, जिस सूक्ष्मता से हमारी विचार–सेना–पंक्ति को तोड़ने की चेष्टा की जाती है उसके हम प्रशंसक हो सकते हैं और होते हैं।

कहा जाता है कि कुरुक्षेत्र के मैदान में जब कर्ण और अर्जुन के बीच तुमुल संग्राम छिड़ा तो दोनों ओर से बाणों की वर्षा होने लगी। अर्जुन जब बाण मारते थे तो कर्ण का रथ एक योजन पीछे हट जाता था और कर्ण के बाण मारने पर अर्जुन का रथ तीन पग पीछे हट जाता था। कृष्ण अर्जुन के रथ का सारथित्व कर रहे थे। अर्थात् उनकी पूरी सहानुभूति अर्जुन के साथ थी और महाभारत युद्ध में वे पाण्डव पक्ष की ही विजय चाहते थे। पर कर्ण के बाणघात मे जब अर्जुन का रथ तीन पग पीछे हट जाता था तो वे कर्ण को साधुवाद देने लगते थे। शाबास कर्ण! धन्य हो! पर अर्जुन के बाण जब कर्ण के रथ को योजनों पीछे ढकेल देते थे तो वे मौन ही रहते थे। अर्जुन के लिए उनके मुख से प्रशंसा का एक शब्द भी नहीं निकलता था। अर्जुन को यह बहुत ही बुरा लगा और कृष्ण से इस पक्ष विरोधी कार्य के लिए उन्होंने जवाब तलब किया। कृष्ण ने कहा, "देखो तो सही, तुम्हारे रथ पर मैं सारे ब्रह्माण्ड का भार लिये बैठा हूं, तुम्हारी पताका में हनुमान जी हैं जो अपने रोम रोम में पर्वत बांधकर जमे हुए हैं तिस पर भी कर्ण तुम्हारे रथ को तीन डग पीछे घसका देता है। तब उसको प्रशंसा क्यों न करूं? कर्ण के रथ में तो कुछ भी नहीं। यहां तक कि उसने कवच को भी उतार कर दान कर दिया है।" कृष्ण विरोधी पक्ष के थे, कर्ण की विजय हो ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। पर उनमें सच्ची परख थी, वे उचित मूल्यांकन करना जानते थे। वे सच्चे आलोचक थे। किसी वस्तु का सच्चा मूल्यांकन करना आलोचना और आलोचक की पहली शर्त है।

आपके सामने आलोचना के लिए दो पुस्तकें उपस्थित हैं। एक पुस्तक ऐसी है जिस में की प्रत्येक बात से आप सहमत हैं। दूसरी पुस्तक में वर्णित प्रत्येक बात के आप विरोधी हैं और उसके विरुद्ध मरते दम तक एक-एक सांस से लड़ने के लिए तैयार हैं। पर मुझे कल्पना कर लेने में कोई कठिनाई नहीं है कि आप एक पुस्तक को पढ़ कर लिखते हैं, "इस पुस्तक में जो बातें लिखी गई हैं, एक दम तथ्यहीन हैं, अनर्गल प्रलाप हैं, उपेक्षणीय हैं। पर इतना होते हुए भी इसमें कुछ गुण ऐसे हैं जिनके कारण सदियों बाद तक यह पुस्तक लोगों के कण्ठ की हार बनी रहेगी। लोग इसे बड़े चाव से पढ़ेंगे और इसके उद्धरण देते रहेंगे। आप तुलसी के शब्दों में यह कहेंगे :-

"यद्यपि कवित गुण एको नाही,
राम प्रताप प्रगट यही मांही।"

दूसरी पुस्तक की आलोचना करते समय आप कह सकते हैं "इस पुस्तक की एक-एक पंक्ति से मैं सहमत हूं। लेखक ने बहुत सारगर्भित बातें कही हैं, और मुझ से जहाँ तक हो सकेगा मैं इन विचारों के प्रचार में सहायता दूंगा। पर यह भी कहे बिना नहीं रह सकता कि आज से कुछ ही वर्ष बाद इस पुस्तक को पढ़ने वाला शायद ही कोई मिले" मैं कहूंगा आप सच्चे आलोचक हैं और आलोचना के मर्म को पहिचानते हैं।

मैं ऐसा क्यों कहूंगा ? इसलिए कहूंगा कि आप पुस्तक की ओर न देख कर पुस्तक–रचना को प्रेरणा देने वाली मौलिक प्रतिभा को देख रहे है, आप मस्तिष्क और हृदय की उस महानता और विशालता की झांकी ले रहे है-जो पंक्ति-पंक्ति में इस तरह रमा रहता है जिस तरह पत्ती पत्ती

में वृक्ष का जीवन-रस सिंचित रहता है। आप वेदना और तड़प की ओर कम देखते हैं। आप देखते हैं कि तड़पने वाला कलेजा कैसा है-सवा हाथ का है या नहीं। कांट, हीगेल, शंकराचार्य के विचारों से हम भले ही सहमत न हों, और उनकी विचार-धारा की हम धज्जी-धज्जी उड़ा कर रख दें पर उनकी पुस्तकों के प्रणयन में प्रौढ़ मस्तिष्क की जो सतर्कता, जागरुकता तथा सूक्ष्मता काम कर रही है उसका जादू सदा ही सर पर चढ़ कर बोलता रहेगा।

अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि साहित्य से अधिक महत्त्व-पूर्ण साहित्य का प्रणेता होता है। हम लेख में लेखक के मस्तिष्क की महानता को देखना चाहते हैं। हम देखना चाहते है कि साहित्य को प्रेरित करने वाला मस्तिष्क कैसा है, उसका विवेक कैसा है, हम यह नहीं देखते कि वह किस पक्ष का समर्थन करता है परन्तु यह देखते हैं कि जिस पक्ष का वह समर्थन करता है उसमें वह कितनी सूक्ष्मता-ग्राहकता का परिचय देता है। हम उसके सिद्धांतपक्ष को नहीं देखते, उपलब्धि को नहीं देखते, साध्य को नहीं देखते, पर देखते यह हैं कि सिद्धांत के प्रतिपादन के लिए मस्तिष्क को कितनी अग्नि परीक्षाओं से होकर गुजरना पड़ा है, कितना त्याग और बलिदान करना पड़ा है। आज हम वैज्ञानिक युग में निवास कर रहे हैं। वेदों की अपौरूषेयता तथा याज्ञिक अनुष्ठानों की अदम्य उपादेयता, वैदिक विधि निषेध की अनिवार्यता पर शायद ही विश्वास करें। पर जब मीमांसा अपने अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हो कर वेदों की रक्षा में उपस्थित होती है तो हमें दांतों तले अंगुली दबानी ही पड़ती है।

मैं अपने मंतव्य के समर्थन के लिए, अथवा स्पष्टीकरण के लिए कहिये, अंग्रेजी साहित्य के दो व्यक्तियों का उदाहरण लूंगा। हैजलिट

का और बर्क का। ये दोनों दो विरोधी पक्षों के सक्रिय सदस्य थे। विलियम हैजलिट अपने विचारों के बड़े कट्टर थे और राजनैतिक क्षेत्र में तो उन्हें समझौता करना आता ही नहीं था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का उनके जैसा उग्र और दृढ़ समर्थक तो शायद ही कोई हो। एडमंड बर्क ने ठीक इसके विपरीत, फ्रांस की राज्यक्रान्ति की निन्दा करने में उसके भयानक चित्र खींचने में अपनी वाग्मिता की सारी शक्ति लगा दी थी। ये दोनों एक दूसरे के कट्टर शत्रु थे। पर जब वर्क के मूल्यांकन का समय आया तब हैजलिट ने कहा "1 did not care for his doctrine. I was then, and am still, proof against their contagion but I admired the author, and was Considered as not a very Staunch partisan of the opposite side although I thought myself that an abstract proposition was one thing—a masterly transition a brilliant metaphor, another. I concieved too that he might be wrong in his main argument, but may deliver fifty truth in arriving at a false conclusion अर्थात् मैं उसके विचारों की परवाह नहीं करता। मैं उनकी संक्रामकता के लिए आज भी उसी तरह अभेद्य हूं, जैसा पहले था। पर लेखक के लिए मेरे हृदय में आदर के भाव हैं। लोग मुझे विरोधी दल का दृढ़ समर्थक भी नहीं मानते थे। हालांकि मैं मन ही मन यह सोचता था कि आदर्श सिद्धान्त प्रतिपादन एक चीज है और सशक्त तथा सजीव अलंकृत अभिव्यक्ति दूसरी। मैं यह भी समझता था कि उसका प्रधान विचार भ्रमपूर्ण हो सकता था फिर भी एक भ्रम-पूर्ण निष्कर्ष पर पहुंचने की राह में वह सैकड़ों सत्य दे सकता है।

मैं सदा से इस विचार का समर्थक रहा हूं कि साहित्य जैसी वस्तु पर झट से दो चार फार्मूलों के आधार पर कोई फतवा दे देना ठीक नहीं। चाहे वह प्लेटो का फार्मूला हो, अरस्तू का हो, मार्क्स का हो, मम्मट का हो या कुन्तक का। साहित्य बहुत ही जटिल वस्तु है। कह तो दिया कि साहित्य जटिल वस्तु है। परन्तु एक पद और बढ़कर कहा जा सकता है कि जीवन ही जटिलता का पुंज है। मुझ से कोई पूछे तो मैं कहूंगा कि सारी कटी छंटी, साफ सुथरी, मंजी संवारी, किसी विशेष मार्ग का अनुसरण करने वाली प्रत्येक वस्तु को मैं संदेह की दृष्टि से देखता हूं। जहाँ मैंने देखा कि रेकार्ड पूर्ण है, पाई पाई का हिसाब मिला हुआ है, सारे वाउचर अपने स्थान पर हैं, एक भी पकड़ में आने वाली चीज नहीं है, वहीं मेरा माथा ठनका कि कहीं न कहीं गोलमाल अवश्य है। भला प्राकृतिक जीवन का हिसाब भी कहीं इतना स्पष्ट होता है? यह मानव कृत नाटक है जिसमें प्रथम अङ्क में प्रारम्भ, दूसरे में प्रयत्न, तीसरे में प्रात्याश, चौथे में नियताप्ति, पांचवें में फलागम। जीवन कभी भी ऐसे प्रशस्त राजमार्ग पर नहीं चलता। हमारे पार्क की लता भले ही माली की कैंची के इशारे पर नाचे पर वन्यलता तो जीवनोपप्लव की उमंग में आकर सब पर छा कर रहेगी।

मार्क्सवादी जब वर्ग संघर्ष के पैमाने से विश्व के इतिहास को नचाने लगता है, मठाधीश धर्म के नाम पर, इतिहासकार इतिहास के नाम पर, दार्शनिक शुष्क विचारों के नाम पर सब कुछ समझाने, बुझाने का बीड़ा उठाता है तो, मुझे लगता है, उसने मनुष्य को बौना बना दिया। किसी पुस्तक या व्यक्ति के महत्त्व का माप-दण्ड यह नहीं है कि उस में दोष नहीं हैं। मैं ऐसी पुस्तकों को जानता हूं जिनमें सबसे अधिक दोष हैं तिस पर भी

उनकी लगाना श्रेष्ठ पुस्तकों में होती है। कहा जाता है कि श्री हर्ष ने अपनी पुस्तक "नैषधचरितम्" की रचना समाप्त की तो मम्मट के पास सम्मति लेने के लिए गये। मम्मट ने ध्यानपूर्वक पुस्तक के अध्ययन करने के पश्चात् कहा, "मुझे अफसोस है कि यह पुस्तक पहले अर्थात् काव्य-प्रकाश की रचना करने के पूर्व क्यों नहीं मिली। मुझे काव्य प्रकाश के दोष-प्रकरण लिखने के लिए दोषों के उदाहरण देने के लिए सारे संस्कृत वाङ्मय को छानना पड़ा था। यदि यह पुस्तक हाथ लगी होती तो सब दोषों के उदाहरण एक साथ एक ही पुस्तक में ही मिल जाते। पर इन दोषों के रहते भी क्या नैषध-चरित्रम् की ज्योति में कुछ भी म्लानता आई?

दूसरी ओर ऐसी पुस्तकों के भी उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें किसी तरह की त्रुटि दिखलायी नहीं पड़ती। वर्ण्य—वस्तु भी ठीक है, सर्वहारा वर्ग की प्रशस्ति गाई गई है। साहित्य के नियमों, जैसे समकत्रय का भी पालन हुआ है पर फिर भी उनकी गणना उच्चकोटि के साहित्य में नहीं होती। इस विरोधाभास को किस तरह समझाया जाए?

इसका समाधान यही है कि हम साहित्य की ओर न देखकर साहित्यकार की ओर देखते हैं। हम 'अभिज्ञान—शकुन्तलम्' या 'हैमलेट' को न देख कर कालिदास और शेक्सपियर को देखते हैं। उनके मानसिक क्षितिज के विस्तार को देखते हैं, उनकी कल्पना तथा हृदय की गहराई को देखते हैं। नहीं तो हैमलेट या 'अभिज्ञान—शाकुन्तलम्' में दोषों की क्या कमी है? इनमें किसी राजनैतिक, आर्थिक समस्या पर विचार नहीं किया गया है, किसी तरह के सुधार की बात का उल्लेख नहीं किया गया है। इनमें कोई भी सन्देश नहीं है। नाटककार अपनी तात्कालीन राजकीय व्यवस्था से इतना संतुष्ट दीख पड़ता है कि उसके विरुद्ध एक सांस भी नहीं लेता।

नाट्यकला की दृष्टि से भी यह पुस्तक बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती। पांच अङ्कों तथा करीब दो दर्जन दृश्यों वाले इस नाटक में बहुत सी ऐसी भूलें हैं जिन्हें आज का एक अदना नाटककार भीं नहीं कर सकता। ये सब बातें कीथ ने कालीदास की आलोचना करते समय कही भी हैं। तिस पर भी किसी रहस्यमयी प्रक्रिया के द्वारा अभिज्ञान शांकुतलम् एवं हैमलेट का आदर बढ़ता ही जा रहा है ? कारण कि इन पुस्तकों के पढ़ते समय हम एक महान दिव्य मस्तिष्क के सम्पर्क में आते हैं और स्वयं भी अपने में दिव्यता की अनुभूति पाते हैं।

सबसे दुख की बात तो यह है कि हम पढ़ने का उद्देश्य भूलते जा रहे हैं। किताबें तो खूब प्रकाशित हो रहीं हैं पर पाठकों की संख्या कम होती जा रही है। हम पुस्तकें पढ़ते हैं जरूर, पर परीक्षा में सफलता प्राप्त करने के लिए, इतिहास या भूगोल की बात जानने के लिए तथा देश विदेश की कथायें जानने के लिए ताकि तथा-कथित विद्वद्गोष्टियों में अपनी विद्वता का रोब ग़ालिब कर सकें। ऐसे पाठकों की संख्या कम है जो एक महान आत्मा, प्रबुद्ध मस्तिष्क तथा उच्च उर्द्धज्वलन प्रतिभा के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए, Communicate करने के लिए, पुस्तकें पढ़ते हों। पुस्तक के माध्यम से हम लेखक की आत्मा तक पहुंचने की चेष्टा नहीं करते, हम उसके इर्द गिर्द चक्कर काट कर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। आज हमें ऐसे पाठक-वर्ग को फिर से प्राप्त करना हैं, rediscover करना है। जब तक ऐसा पाठक वर्ग सामने नहीं आता जो साहित्य से अधिक साहित्यिक की ओर देखता हो, काव्य से अधिक कवि की ओर, कथा से अधिक कथाकार की ओर, तब तक वास्त-विक मूल्यांकन को समस्या खतरे में ही रहेगी।

लेखक या कवि अन्तिम विशलेषण में व्यक्ति ही होता है। उस पर अपने युग का, अपनी अभिरुचियों, अनुभूतियों, शिक्षा–दीक्षा तथा वातावरण का आवरण पड़ा रहता है। उसकी सीमायें होतीं हैं जिनसे ऊपर उठना कठिन होता है। पर जब व्यक्ति की प्रतिभा अपने स्थूल आवरणों का भेदन करने लगती है, वेदान्त के अनुसार जब वह अन्नमय कोष से आगे बढ़ कर प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय एवं आनन्दमय कोष की ओर बढ़ने लगती है तो व्यक्ति कवि बनने लगता है। साधारण व्यक्ति और कवि में यही अन्तर है कि जहां व्यक्ति व्यक्तित्व की सीमा में ही सीमित रहता है वहां कवि अपने को सार्वकालिक और सार्वभौम बना सकता है। ऐसी भाषा बोल सकता है, ऐसे भाव अभिव्यक्त कर सकता है जो सब के लिए ग्राह्य हो।

होमर, शैक्सपियर, कालिदास या अन्य किसी कवि का युग हमारे युग से कितना भिन्न है? इन सैकड़ों वर्षों की अवधि में ज्ञान और विज्ञान की जो आशातीत बृद्धि हुई है उसने व्यक्ति के मानसिक संगठन के ढांचे को ही बदल दिया है। हमारे सोचने विचारने के ढंग में ही परिवर्तन हो गया है। हम आज इतनी बातें जानते हैं जितनी वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे। यह बात कैसे मान ली जाय कि वे व्यक्ति जिनको हमारी समस्याओं का कुछ भी ज्ञान नहीं था, जिनको हमारे सामाजिक, राजनैतिक अथवा आर्थिक संगठन का कुछ भी परिचय नहीं था उनकी वाणी में हमारे लिए कुछ भी सार्थकता हो सकती है? वे हमारे लिए दिव्य संदेश के वाहक हो सकते हैं? पर किसी न किसी तरह यह चमत्कार संपन्न होता ही है। कालीदास या शैक्सपीयर के शब्द हमारे लिए सारगर्भित होते ही हैं और आज भी हम उनमें अपने जीवन का पोषक तत्व पाते ही हैं। यह इन्द्रजाल रचना में नहीं, कृति

में नहीं, परन्तु रचनाकार तथा कृतिकार की महानता में है। हम उनके सिद्धान्तों पर मुग्ध नहीं होते, उनकी अच्छाई या बुराई की परवाह नहीं करते। हम प्रभावित होते हैं, उस सजीवता से, उस शक्ति से, उस सात्विक उत्साह से जो इस रचना के पीछे सक्रिय है। आज की विडम्बना यही है कि हम साहित्यकार की पूजा करना भूलकर साहित्य पर ही अटक जाते हैं। हम भूल जाते हैं कि साहित्यकार साहित्य से कहीं अधिक महान है। रचना में रचयिता का प्रतिबिम्ब तो रह सकता है पर वह क्षीण मात्र ही। ईश्वर अपनी सृष्टि में रमा तो है, पर उतने में ही वह समाप्त नहीं हो जाता। वह उससे भी परे है। जो सृष्टि स्रष्टा को दिखलाये या उसे देखने के लिए प्रेरित करे वही सही बात है। जो सृष्टि के ही उहापोह में फंस कर रह जाते हैं वे गलत राह पर हैं।

मैं जब मैट्रिक की परीक्षा में बैठ रहा था तो मेरे पाठ्य विषयों में गणित भी था। गणित में मैं बहुत ही कमजोर था और उसमें मुझे सदा ही कम अंक आते थे। विशेषतः ज्यामिति के साध्य तो समझ में आते ही नहीं थे। मेरी समझ में यह बात नहीं आती थी कि इन बातों का जीवन में क्या महत्व है ? ये बातें हमारे जीवन में क्या महत्व रखती हैं ? मैंने इसी तरह की आशंका अपने शिक्षक के सामने प्रकट की। मेरे प्रश्न के उत्तर में जो बात उन्होंने कही वह आज भी मेरे कानों में गूंज रही है। उन्होंने कहा, "वैसे तो इन बातों की कोई उपयोगिता नहीं। पर एक बात है कि इन सूक्ष्म तथा बारीक बातों के द्वारा तुम उस महान प्रतिभा के सम्पर्क में आते हो जिसकी पकड़ इतनी गहरी थी, जो किसी भी चीज़ को सस्ते ढंग से तथा सस्ते मूल्य पर खरीदना नहीं चाहती थी, सब चीजों को खूब ठोक बजा कर देख लेती थी और उसका पूरा मूल्य

चुकाती थी। इन प्रमेयों और वस्तूपाद्यों के साथ जूझने से तुम में भी किसी समस्या पर डूब कर विचार करने की प्रवृत्ति जगेगी और अवसर आने पर तुम किनारे ही बैठ कर लहरों की गिनती करते रहने की पलायनवादी प्रवृत्ति से बचोगे।"

प्रकारान्तर से मैं इसी बात की वकालत कर रहा हूं। आप रचना के सौष्ठव की प्रशंसा कर सकते हैं, उसकी पंक्तियों की बारीकी तथा अलंकारों के प्रयोग पर फड़क उठ सकते हैं, कथा के गौरव पर मुग्ध हो सकते हैं अथवा ऐसे अनेक काम कर सकते हैं। पर जब आप वह चीज ढूंढ़ने लगेंगे, जिसके चलते रचना की यशकाया जरामरणज भय से मुक्त रहती है तो आप को रससिद्ध कवीश्वर की प्रतिभा की ओर देखना होगा।

साहित्य का विश्लेषण आधार 'ठुमरी'

हिन्दी के तरुण पर लब्धप्रतिष्ठ कथाकार श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' की नव कहानियों का संग्रह ठुमरी नाम से प्रकाशित हुआ है। एक बार न्यायशास्त्र में 'नव' शब्द ने बड़ी गड़बड़ी मचा दी थी। किसी ने कह दिया 'नव-कम्वलोऽयं देवदत्तः'। इस पर एक श्रोता ने तपाक से कहा, नास्त्यत्र नव-कम्बलाः सन्ति दरिद्रत्वात्। नह्यस्य द्वयमपि सम्भव्यते कुतःनवः बड़े विचित्र आदमी मालूम होते हो जी। देवदत्त के पास नव कम्बल कहां से आये। यह तो दरिद्र है। इसके पास दो कम्बलों की सम्भावना नहीं। नव की बात तो दूर रही) पर मुझ पर आप यह दोषारोपण नहीं कर सकते, चाहे नव शब्द का अर्थ आप नूतन लें या नव, मेरी बात ठीक होगी। इस संग्रह में ९ कहानियां हैं। नवीन तो हैं हीं। कारण मैला आंचल, तथा परती परिकथा के बाद इन्हीं दो आंचलिक उपन्यासों की परम्परा में यह नवीनतम कहानी संग्रह है।

रेणु के इस संग्रह के बारे में झट से दो चार शब्दों में कोई सम्मति दे देना कठिन है। यह कठिनता इसी संग्रह के बारे में नहीं, किसी भी

साहित्यिक कृति के लिए लागू है—वह कृति जो महान कृतियों की पंक्तियों में बैठने का दावा करती हैं। वैसे इस संग्रह के गुणों की गणना कर देना कठिन नहीं है। ग्रामीण जीवन का बड़ा ही यथार्थ चित्रण है, स्थानीय बोलियों के शब्दों के प्रयोग ने शैली से एक विचित्र 'भंगी भणिति' को उपस्थित कर दिया है जिसे 'वैदग्ध्य' ही कहना पड़ता है चाहे उनमें ग्रामीण शब्दों का प्रयोग ही क्यों न हुआ हो। थेथरई करना, पिनकना, छौंडा, लदनी और इन जैसे सैकड़ों शब्दों के प्रयोग से निश्चय ही हिन्दी की अभिव्यंजक शक्ति का विकास हो रहा है। इसके लिए हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक 'रेणु' का नाम आदर के साथ लेंगे।

यह भी बात ठीक है कि ग्रामीण जीवन के चित्रण में 'रेणु' प्रेमचंद से कहीं आगे हैं। प्रेमचंद के कथा साहित्य में गांवों का वर्णन अवश्य है, किसानों को वहां स्थान अवश्य मिला है, उनकी समस्यायें भी छेड़ी गईं हैं पर वह सब ऊपर ऊपर से ही हैं, अन्दर से नहीं। वह ऐसा ही है मानों कोई शहर का नागरिक हो, बड़ा ही स्पंदनशील और उदार। उसने सहानुभूतिपर्ण दृष्टि से गांवों को देखा हो, गांवों के जीवन में परकायप्रवेश किया हो और बाहर आकर उसका हालचाल बता रहा हो। ऐसा नहीं लगता कि वह गांव का ही रहने वाला हो, उसने उनके पर्व त्योहारों में हाथ बटाया हो, दुख सुख का भागी हुआ हो। हां, इतना ही कह सकते हैं कि सब आन्दोलनों के आदर्शों तथा विचारों की शिलाधर्मिता के नीचे से ग्रामीण जीवन का एक अंकुर फूटता अवश्य दिखलाई पड़ता है।

प्रेमचन्द के साहित्य से साफ प्रगट है कि वे गांव के रहने वाले नहीं पर गांव से सहानुभूति रखने वाले हैं। रेणु का साहित्य पुकार पुकार कर कह रहा है कि वे गांव के हैं, देहाती है, देहात में बैठ कर वहां के जीवन

समर में खड़े होकर अपनी आंखों से देख कर ठुमरी के गीत गाये हैं। प्रेमचन्द के होरी को देख कर ऐसा लगता है कि वह है तो गांव का ही, वहां रहता भी है पर शायद वह शहर भी जाकर घूम आया है और प्रेमचन्द जैसे नागरिक साहित्यकार से सीख पढ़ कर भी आया है। नहीं तो जैसा साफ सुथरा उसका व्यवहार होता है, उसके कार्यों में जो एक सिलसिला है, व्यवस्था है, सफाई है वह गांव के किसानों में विरल ही है। वह गांव का हो तो सकता है, पर है नहीं। मानों किसी उपन्यासकार की साफ सुथरी Orderly unfolding of plot वाली कथा हो, जो जीवन का प्रतिनिधित्व भले ही करले, पर वह विशुद्ध जीवन की प्राणवत्ता नहीं है।

परन्तु रेणु और उनकी ठुमरी के पात्र जैसे रसपिरिया गाने वाला मिरदंगिया, मोहना, मखनी फूआ, डोमन, सिरचन, गुलरी काकी, गोधन, कालू, हिरामन इत्यादि को देख कर ऐसा लगता है कि वे शुद्ध देहात के रहने वाले हों, उन पर शहरीपन का कुछ भी असर नहीं पड़ा हो। उन पर नवीन सभ्भता की रोशनी जो आ गई है वह स्वाभाविक रूप से आ गई है। किसी ने जानबूझ कर सभ्यता की मशाल उनके हाथ में नहीं दे दी है। ठुमरी की एक कहानी है 'पंचलाइट'। पंचलाइट का मतलब गैस लाइट है। पंचों ने पंचलाइट खरीद तो ली है पर उसे किस तरह जलाया जाय यह किसी को भी मालूम नहीं। उसे जलाने के लिए जिस कठिनाई का सामना करना पड़ता है वह गांव की सच्ची कहानी है। होरी जब राजा साहब के नाटक में माली का पार्ट करने गया था तो वहां पर चारों ओर बत्तियां चकमक थीं।

'ठेस' एक बड़ी सशक्त कहानी है। ठेस तो सब को लगती है।

पर सवाल यह है कि वह हृदय कैसा है जिसे ठेस लगी है। मुझे ठेस लगे तो जिस पैर से ठेस लगी है उसे तोड़ दूं। चाणक्य के पैर में ठेस लगी तो उसने कुशों की जड में मठ्ठा देकर उनके मूल के ही विध्वंस की बात सोची। भृगु ने क्षीर सागर में लक्ष्मी के साथ सोये हुए विष्णु की छाती में लात मारी तो वे भृगु के चरणों को चांपने लगे "भगवान् मेरी छाती तो पत्थर की तरह कठोर है। पर आपके चरण तो कोमल हैं। इनको कितना कष्ट हुआ।" दोनों उदाहरणों में दो बातें दिखलाई पड़ती हैं। वह हृदय जिसको ठेस लगी है और वह हृदय (लेखक) जिस ने ठेस की कल्पना की है। आगे बढ़ कर मैं यहां तक कहूंगा कि ठेस की कल्पना करने वाले हृदय की ही झलक मिलती है। क्योंकि पहली चोट उसके ही हृदय पर लगती है, पहले उसी हृदय ने Shock को absorb किया है, उसके बाद जो कहानी में बचीखुची चोट आ गई है और जिस से वह कहानी वीणा के तार की भांति कांप रही है वह तो उसकी हल्की छाया मात्र है। अंगार तो कल्पना करने वाले हृदय में बसता है, कविता तथा कहानी के रूप में आते-आते तो वह अंगार बुझने सा लगता है।

इसी दृष्टि से हम ठुमरी की आलोचना करना चाहते हैं। हम देखना चाहते हैं कि इस गायक या लेखक का हृदय कैसा है जहां इन कल्पनाओं ने जन्म लिया है। लोग यह समझते हैं कि कोई कहानी या कविता जिस लिपिबद्ध या शाब्दिक रूप में हमारे सामने दृष्टिगोचर या श्रवणगोचर हो रही है वही वास्तविक रचना है। पर बात ऐसी नहीं है। असल में कविता या कहानी तो हृदय की, आत्मा की गहराई में जन्म लेती है। एक रागा-गीत हल्का सा स्पन्दन होता है, कोई शब्द नहीं, कोई ध्वनि नहीं जिसे कान नहीं पर हृदय सुनता है। इसके हल्के स्पन्दन का अस्तित्व ही

साहित्यिक अनुभूति की सूचना है। उच्चकोटि की रचना की यह पहली शर्त है। प्रत्येक रचना के पहले आत्मा में एक विक्षोभ होता है, कम्पन होता है, एक ऐसी चीज होती है जो व्यक्तित्व की अन्तरतम गहराई से उठती है और गीत की सृष्टि करती है। (as-cend from the depth of being and compose a song) यह निर्विकल्पक होती है, न इसमें शब्द रहते हैं, न रूप न रंग। बस हृदय संवेद्य कम्पन। रचना को इस का आधार प्राप्त है या नहीं इसी बात पर विचार करना है।

किस रचना को यह आधार प्राप्त है यह तो उदाहरण के द्वारा ही स्पष्ट हो सकता है। एक बहुत बडी फैक्ट्री है जिसमें कितनी ही वस्त्रोत्पादक मशीनें काम करतीं है। उस मिल के आस पास की कोठरियों में रूई के गट्ठर के गट्ठर सजा कर रखे हैं ताकि भविष्य में उनका उपयोग किया जा सके। एक व्यक्ति उन गट्ठरों की पंक्तियों को देख कर कहता है मानों "ये बैंक में रुपये जमा कर रखे गये हैं" अर्थात् उनमें उसे रुपयों की थैलियां दिखलाई देती है। एक दूसरा व्यक्ति देखता है और उसे इनमें झुकी हुई कमरें दिखलाई पड़ती हैं—उन लोगों की कमरें जो कपास लोढ़ते हैं और रुई निकालते हैं, उन लोगों की जो सूत कातते हैं, उन लोगों की जो सूत के गट्ठरों को ढो-ढो कर मिल में डालते हैं और इस पूंजीवादी गर्दिश में पीसे जा रहे हैं।

कहना नहीं होगा कि दूसरा व्यक्ति कवि है जिसकी आत्मा की गहराई में किसी सत्य का अवतरण हुआ है और वही ऊपर आकर शब्दों का रूप धारण कर रहा है। पहले ने भी देखा जरूर है पर बाहरी दुनिया में और उसके कृतित्व को बाह्य का आन्तरिकी करण (internal-

isalion of external) कहेंगे पर दूसरे में प्रकरण उलट गया है वहां (externalisation of internal है अर्थात् आन्तरिक का वाह्यीक-करण है । एक में बाहर भीतर प्रवेश करता है, दूसरे में भीतर ही बाहर आता है । एक में कलेजा थाम कर दर्द पैदा किया जाता है और दूसरे में दर्द होने पर कलेजा थाम लिया जाता है । पहला दुनियबी व्यक्ति है, वैज्ञा-निक है । दूसरा भावजगत का प्राणी है, कवि है । एक कहता है शुष्कः वृक्षः तिष्ठत्यग्रे; दूसरा कहता है **नीरस तरुरिह बिलसति पुरतः** । कादम्बरी काव्य को पूर्ण करने की क्षमता की कल्पना दूसरे व्यक्ति में ही की गई है ।

ठुमरी में जो बातें कही गईं हैं उसकी पंक्ति-पंक्ति से हम सहमत हैं, उसमें कोई भी ऐसी बात नहीं जिस से किसी को जरा भी असहमति हो पर किसी पुस्तक के सिद्धान्त से, उसके वर्ण्य विषय से हमारा सहमत हो जाना ही उसके महत्व का प्रमाण नहीं है । हम उसमें लेखक को देखना चाहते हैं, हम उस व्यक्ति को देखना चाहते है जिसने पुस्तक लिखी है । **हम ढूढ़ते फिरते हैं वह शमा कहां है, जो बज्म के हर शख्स को परवाना बना दे** । मेरे पास एक पुस्तक आती है । उसके बारे में हम यों लिख सकते है "पुस्तक में वर्णित विचारों से मैं पूर्णतया सहमत हूं । इन प्रतिपादित विचारों के प्रचार के लिये मैं बड़े-से भी बड़े बलिदान से भी नहीं हिचकूंगा । पर यह बात भी ठीक है कि आज से कुछ ही वर्षों के बाद इस पुस्तक का पाठक कोई नहीं रह जायेगा और कोई भी पुस्तक से उद्धरण नहीं देगा ।" एक दूसरी पुस्तक के बारे मैं लिखूंगा । "इस पुस्तक के किसी विचार से मैं सहमत नहीं हूं । जहां तक हो सकेगा मैं इन विचारों का विरोध करूंगा । पर इसमें वह गुण है,

वह महान् प्रतिभा काम कर रही है जो इस पुस्तक को कभी भी विस्मरणीय नहीं होने देगी और सदियों बाद भी इस पुस्तक के उद्धरण दिये जाते रहेंगे।" हम शंकराचार्य, प्लेटो, अरस्तू के सिद्धांतों को चाकू से काट कर टुकड़े उड़ा दें पर क्या उन्हें सहज ही भुला भी सकेंगे ? उनकी रचनाओं में उनका विशाल व्यक्तित्व है, अभिव्यक्ति के पीछे आकाश-धर्मी व्यापकता है जो सबको अपने यहां स्थान दे सकती है। मित्र तो मित्र ही है, विरोधी का भी वहां स्वागत है।

हम ठुमरी को या रेणु के पूरे साहित्य को प्रथम श्रेणी में ही रखेंगे। हम रेणु की प्रशंसा ही करेंगे कि कथा-साहित्य का ग्राम अन्त-र्प्रयाण जो प्रेमचन्द से प्रारम्भ हुआ उस प्रवृत्ति को इन्होंने आगे ही बढ़ाया। यहां भी जरा ठहरेंगे। प्रेमचन्द के पश्चात् कथा साहित्य की इस ग्राम अन्तर्प्रयाण की प्रवृत्ति अन्दर ही अन्दर जारी रही है हालांकि इसका स्पष्ट रूप रेणु में ही दिखलाई पड़ता है। मानों नदी की धारा सूखती सी दिखलाई पड़े पर वास्तव में वह सूखी नहीं हो, जमीन के नीचे बह रही हो। फिर कुछ दूर पर जाकर सामने आ गई हो और लोगों का ध्यान आकर्षित करती हो। जिस ग्रामीण क्षेत्र को रेणु ने अपनाया है वह औरों ने न अपनाया हो सो भी बात नहीं। श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह का उपन्यास 'फरार की डायरी' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसमें एक ऐसे फरार की कथा कही गई है जो एक देहात में जाकर वहां के लोगों के साथ, पासियों के साथ अपना अज्ञातवास का जीवन व्यतीत कर रहा है। इस पुस्तक में भी देहाती बोली का खुल कर प्रयोग किया गया है। ठुमरी की एक कहानी 'तीन विंदियां' में और इस पुस्तक के एक दृश्य के वर्णन में मुझे विचित्र साम्य मिला। दुर्गाशंकर के राम कनेसर की

पार्टी पक्षियों की नकली बोली बोल चाहों (एक पक्षी विशेष) को पकड़ती हैं, जाल में फंसाती है। 'तीन बिंदियां' में भी हाराधन मादा मृग को कामातुर पुकार देकर, स्वयं अपनी कंठध्वनि से स्वर निकाल कर मृगों के शिकार में सहायता देता है। मैं यह नहीं कहता कि इनमें से कोई दूसरे का ऋणी है। सम्भव है दोनों कथाकार ने स्वतन्त्र रूप से इस तरह के उपक्रम का प्रयोग किया हो। पर इतना अवश्य है कि हिन्दी कथा साहित्य में ग्रामान्तप्रयाण प्रेमचन्द के बाद भी जारी रहा है। यह कहना कि रेणु ने प्रेमचन्द की परम्परा की भूली कड़ी को फिर से पकड़ी है स्थूल दृष्टि से ही ठीक माना जायेगा।

वास्तव में जन-जीवन का प्रवाह ही गांवों की ओर उन्मुख है, साहित्य तो उसी की एक झलक मात्र है। राजा जी राधिकारमण प्रसाद की कहानियों में भी यह झलक पाई जाती है।

मैंने कहा कि रेणु ने प्रेमचन्द की परम्परा को अग्रसर किया है, वे आगे की कड़ी हैं। पर फिर भी प्रेमचन्द महान् साहित्यकार हैं, जिसकी महत्ता को रेणु नहीं पहुंच पाते। प्रेमचन्द विधायक, रचनात्मक कलाकार हैं, उन्होंने देखा है कम और 'गूना' है अधिक। लड़कपन में मेरे दादाजी मुझ पर नाराज होते थे तो खुलकर और लड़कों की तरह मुझ पर बरस तो नहीं पड़ते थे क्योंकि मैं पढ़ने लिखने में तेज था, मैट्रिक में पढ़ता था। अतः मन ही मन मुझ से आतंकित थे, मेरे महत्व को महसूस करते थे। वे इतना ही कहते थे कि 'ऐ बच्चा, तू पढ़लत बाकी गुनले ना (ऐ बच्चा ! तुम पढ़े हो सही पर तुम में विवेक नहीं है)। उसी तरह मैं रेणु के महत्व को खूब समझ रहा हूं। दूसरा कोई कथाकार होता तो उसकी अच्छी

खबर लेता। पर ठुमरी की आलोचना करते यही कहूंगा, 'हे रेणु तू देखल त बाकी गुनलना।'

· जिस बात का मैं उल्लेख कर रहा हूं उसका समर्थन एक दूसरी ओर से रहा है। अमेरिका के सुप्रसिद्ध उपन्यास Steinbeck के सम्बन्ध में एक आलोचक ने लिखा है—

In fact, paradoxically, the strong factor of appeal in this satuation per se may be in the case of Steinbeck book have been responsible for its not being a still better book. Had the situation been less alluring in itself, the could not have relied so greatly author upon it for its appeal, and might have done more, to win us, by the development of character. As it is, most of the character derive their role, which is to say their personality, purely from their relationship to the basic situation. They can but "be"; they can not do. They are flotsasm on a stream of traffic.

(The Philosophy of Literary Form Page 76, foot note by Kenneth Burke).

अर्थात् यह बात विरोधाभास सी भले ही लगे पर कि स्टेनबक की पुस्तक में वर्णित परिस्थिति में जो एक मौलिक तथा सशक्त अपील है उसी ने इसे और भी महत्वपूर्ण पुस्तक बनने देने से रोका भी है। यदि परिस्थिति स्वयं इतनी आकर्षक नहीं होती तो अपनी पुस्तक में अपील

लाने के लिये लेखक उस पर इतना निर्भर नहीं करता और तब पाठकों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए पात्र के चरित्र के विकास की ओर अधिक ध्यान देता। पुस्तक जिस रूप में है उसमें तो पात्रों का चरित्र, उनका व्यक्तित्व मौलिक परिस्थिति से ही अपना स्वरूप ग्रहण करता है। वे जैसे हैं उनको वैसा होना ही पड़ेगा, वे इसके लिये बाध्य है। वे अपनी ओर से कुछ नहीं कर सकते। वे जन प्रवाह पर बहते तिनके की तरह है।

रेणु को सब से बड़ी कमजोरी है कि उन्होंने रेणु से अधिक वर्ण्य वस्तु पर विश्वास किया है और समझ लिया है कि अनुभूति की वास्तविकता ही प्रमुख है, व्यापक है और साहित्यिकता गौण है, व्याप्य है। राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जाए यह सहज संभाव्य हैं। न जाने हमारे लेखक इस प्रवाद को कब भूलेंगे और अपने पर विश्वास करना कब सीखेंगे ? योरोप में तो जमाना यह आ गया है कि साहित्यिक विषयहीन विषय पर उपन्यास लिख रहे है या लिखने की कल्पना कर रहे है और हम हैं कि विषय का बोझ सर पर उठाये ही जा रहे हैं। वास्तविक अनुभूति कभी साहित्यिक अनुभूति की समता नहीं कर सकती। जहां आपने दोनों को एक समझा साहित्य को कौड़ी का तीन बना दिया। वास्तविक अनुभूति आवश्यक तो है पर उसे एक पग और आगे बढ़ कर काव्यानुभूति बन जाना पड़ता है। यदि वह अपने तक ही ठहर गई तो उसका कोई महत्त्व नहीं। साहित्य पाठक के हृदय में कभी भी वैसी प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न करता जैसा वास्तविक दृश्य करता है। आप नाटक देखने गये, एक अत्याचारी निरीह बालक की हत्या कर रहा है। आप उसे देख कर स्टेज पर जूते चला बैठे। यह साहित्यिक प्रतिक्रिया नहीं। वास्तविक प्रतिक्रिया है। जो साहित्य ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न करेगा उसे

मैं महत्वपूर्ण नहीं कहूंगा और समझूंगा कि वह अपना कर्तव्य ठीक से पालन नहीं कर रहा है। वह साहित्य से ज्यादा Rhetoric है। वह ऐसा कुछ काम कर रहा है जो साहित्य से ज्यादा है या कम और ये दोनों अवस्थायें अवांछनीय हैं।

डा० रामविलास शर्मा ने, 'निरालाजी के संस्मरण' नामक लेख में एक स्थान पर लिखा है 'जिस होटल में पंत जी से कविता सुनी थी, एक दिन वहीं खड़े होकर वह (निराला) किसी कुश्ती का वर्णन कर रहे थे। ना''''ना करने पर भी एक श्रोता को पकड़ कर उन्होंने ऐसा झोंका दिया कि बेचारा दरवाजा न पकड़ लेता तो सड़क पर ही आ गिरता। हर चीज़ का सक्रिय वर्णन उन्हें पसन्द था।' इस तरह से झटका साहित्य में नहीं दिया जाता, जैसा प्रायः निराला के कथा साहित्य में पाया जाता है।

रेणु की कहानियां बड़ी उग्र है, हिंसात्मक हैं, बड़े जोर-शोर के साथ पाठकों के सामने दृश्यों के रख देतीं हैं, इस तरह कि पाठक पाठक नहीं रह जाता साधारण द्रष्टा रह जाता है। कल्पना का कल्पना से सम्मेलन नहीं होने पाता। पाठक बड़े मजे मजे में दृश्य से अलग रहते भी आनन्द नहीं उठाता। कह सकते हैं कि दृश्यों को पाठक के पास लाया जाता है, पाठक को दृश्य पर नहीं पहुंचाया जाता। यदि पाठक को समझा-बुझा कर दृश्य के पास पहुंचाया जाता तो वह मन बना कर जाता, तैयारी करके जाता। यहां तो दृश्य इस तरह सामने आ जाते हैं कि देखोगे नहीं तो जावोगे कहां, देखना ही पड़ेगा। अतः उनके सामने साधारण द्रष्टा की ही प्रतिक्रिया होती हैं, साहित्य के पाठक की नहीं। यदि इसे ही आप अच्छा समझते हैं तो रेणु कहानियां सर्वोच्चकोटि की हैं। पर ऐसा करने

के पहले आप ट्रेजिडी के द्रष्टाओं के लिये एक एक जहर की पुड़िया की व्यवस्था कर दें ।

आज के वैज्ञानिक, या मनोवैज्ञानिक जो कहें, युग में दो बातें स्पष्ट हो जानी चाहिए। अनुभूति की प्रेषणीयता अलग वस्तु है और अनुभूति के ज्ञान की प्रेषणीयता अलग। दोनों को एक मे मिला देने से गड़बड़ी होती है और यही बात ठुमरी के लेखक द्वारा हो रही है । रेणु ने ग्रामीण जीवन को खूब देखा है, अपने चक्षुओं को फाड़–फाड़ कर देखा है, इतना देखा है कि कल्पना की आँखें खुलने नहीं पाई हैं। उसकी चाक्षुष प्रतीति उसकी काल्पनिक प्रतीति पर हावी हो गई है। और सच पूछिये तो यही उसकी त्रुटि है। साहित्य सृजन के लिए विस्तार नहीं चाहिए, गहराई चाहिए। साहित्य में जीवन का ज्ञान नहीं रहता, विशुद्ध जीवन रहता है। जब तक हम यह महसूस नहीं करते आज के वैज्ञानिक युग में साहित्य का अस्तित्व खतरे में रहेगा।

हेनरी जेम्स ने अपने एक उपन्यास के सृजन की कथा कहते हुए कहा है कि एक दिन एक पार्टी में उसे बातचीत के अवसर पर कुछ बातें सुनने को मिलीं। बस वे ही उपन्यास के लिए पारस बन गईं। उनके ही स्पर्श मात्र से उसकी आत्मा में वह झंकार पैदा हो गई जिसने रचना का रूप धारण कर लिया। बाद में उस घटना के सम्बन्ध में विस्तार की बातें मालूम होने लगी तो उसने अपने कान मूंद लिए। प्राकृतिक तथ्यता तो एक ऐसी पगली मां है जो अपने पुत्र को पालने में इतना हलराती–दुलराती है, कि उस बालक का दम ही घुट जाए। कलाकार का काम यह है कि इस पगली मां से बालक की रक्षा करे। हो सके तो छीन कर, नहीं तो चुरा कर ही सही। किसी तरह से

उस बालक को अपनी शरण और सुरक्षा में ले। कलाकार ऐसी ही नर्स है, जो बालक को माँ की गोद में से छीन तो लेती है पर उसे चिरंजीव बनाने के लिए। ऐसी ही नर्स बाल्मीकि थे, जिसने राम को प्रकृति की गोद से छीना और आज राम अमर हो गये हैं।

लंकापतेः संकुचितं यशो यत् यत्कीतिपात्रं रघुराजपुत्रः,
स सर्वेवाद्यकवेः प्रभावः न वंचनीया कवयः क्षितीन्द्रैः।

आज राम का घर-घर उच्चार हो रहा है। यह सब आदि कवि का प्रभाव है। राम का नैसर्गिक अधिकार नहीं। लेने दीजिये किसी कवि को रावण को भी अपनी सुरक्षा में, देखिये वही रावण क्या से क्या हो जाता है। प्रकृति ने तो कितने रामों को पैदा किया पर वे न जाने कहां विलीन हो गये, पर बाल्मीकि के राम आज भी जीवित हैं।

ठुमरी का लेखक ऐसी नर्स नही है। उसमें इतनी ताकत नहीं है कि कि वह घटनाओं को अपने संरक्षण में ले। मनोविश्लेषण की शब्दावली में कहें तो स्थानान्तरण करे, संघनन करे जैसा स्वप्नतन्त्र करता है। वह माँ से डरता है। वह माँ से अनुनय विनय भी करता है, बालक की रक्षा की ओर माँ का ध्यान भी दिलाता है। पर माँ का पागलपन प्रबल है जिसके सामने नर्स की बुद्धि हार जाती है। प्रेमचन्द में ज्यादा ताकत थी। प्रेमचंद के साहित्य को पढ़ कर हम कह सकते हैं कि इस लेखक ने गलत निष्कर्ष निकाला है। पर इससे क्या ? एक गलत निष्कर्ष पर पहुंचने की राह में उसने पचासों सच्चाइयों का पता लगाया है। मैं उस लेखक को अधिक महत्त्व नहीं देता जो एक सत्य के लिए पचासों झूठ कहता है।

रेणु ने तो गांव वालों की तीर्थयात्रा की बात 'तीर्थोदक' में कही है, 'सिर पंचमी' के सगुन में देहाती जीवन के उपेक्षित अंश को लिया गया है, 'तीसरी कसम' भी बड़ी रोचक कहानी है (हालांकि कुछ अनावश्यक विस्तार है जरूर)। मैं तो कहता हूं कि ग्रामीण जीवन के गर्हित पहलू को क्यों न लिया जाय ? चोरों, गंजेड़ियों, भंगेड़ियों, लुटेरों को भी क्यों न लिया जाय ? पर बात इतनी सी है कि उस पर इस तरह लिखा जाय जिस तरह टालस्टाय, प्रेमचन्द और कालिदास लिखते हैं। उस तरह नहीं जिस तरह एक स्कूली छोकरा लिखता है।

A.G. Mackenzie ने अपनी पुस्तक Process of Litgerature में साहित्यिक प्रक्रिया पर विचार करते हुए उपन्यास के संबंध में भी कुछ बातें कही हैं जिनसे मेरे कथन के स्पष्टीकरण में सहायता मिल सकती है। मैं उन्हें यहां संक्षेप में लिख रहा हूं।

यह देखा जाता है कि उपन्यास दो तरह के होते हैं। उपन्यास के पढ़ने में कुछ समय लगता है। हम इसे एक ही झलक में नहीं देख सकते। हमें इसके पास चल कर आना पड़ता है। जिस तरह Frieze से चलकर मूर्ति के पास आना पड़ा हो। पर जब हम मंजिले मकसूद पर पहुंचते हैं तो दो बातें हो सकती हैं। हमारे मानस पटल पर उस दृश्यावली के जो संस्कार पड़ें, वे ऐसे हों जैसी Frieze की स्मृति, जैसी-तैसी अनुभूतियों की परिणति। साधारण उपन्यास पढ़ने पर ऐसे ही संस्कार उत्पन्न होते हैं। उनमें Details की छोटी-छोटी बातों की स्मृति की ही प्रधानता होती हैं। हम कह सकते हैं कि मैकबेथ की हत्या के लिए Duncan ने क्या-क्या उपाय किये, किन-

किन हथकण्डों से काम लिया। वहां की एक-एक बात पर हम थीसिस लिख सकते हैं।

पर एक तरह का और उपन्यास होता है जिसके अन्त में आने पर ये सारी बातें अलग-अलग याद तो नहीं रहती पर किसी रहस्यमयी प्रक्रिया से सारी बातें मिलकर एक सार्थक रूप धारण कर लेती हैं, उनमें विचित्र अर्थवत्ता आ जाती है और हम एक झलक मात्र में ही सब कुछ देख लेते हैं। यही साहित्य है। इसमें बातें याद तो नहीं रहतीं पर पुस्तक की स्मृति मानस की गहराई में अङ्कित रहती है, स्वयं पुस्तक मेरे जीवन की साथिन हो जाती है। पहला उपन्यास अनुभूति, का रेकार्ड मात्र है। भले ही वह Brilliant हो, उसमें अनुभूति ज्ञान-विज्ञान की कथा भले ही कही गई हो पर वह स्वयं अनुभूतिस्वरूप नहीं है। उदाहरणार्थ Wuthering Heights में यह विशेष महत्त्वपूर्ण बात नहीं कि इसमें Heathcliff या Catherine के बारे में क्या बातें कही गई हैं परन्तु स्वयं पुस्तक ही महत्त्वपूर्ण है। इसकी "अर्थवत्ता" इसमें नहीं कि वह क्या कहती है पर इसमें है कि वह क्या "है"। प्रधानतः इस पुस्तक से जो चीज हमें प्राप्त होती है वह कविप्रौढ़ोक्तिसिद्धपात्र का रेकार्ड अथवा उसकी अनुभूतियों की व्याख्या नहीं है। यह स्वयं हमारी अनुभूतियों को जागृत करती है अथवा Emily Bronte की अनुभूतियों में प्रवेश कराती है। दूसरे शब्दों में यह विज्ञान नहीं, कला है। इसमें पुस्तक, पुस्तक के रूप में ही याद रहती है। इस रूप में नहीं कि इसके द्वारा हमें अमुक-अमुक बातों का ज्ञान हुआ, information मिली।

मैं शायद जरूरत से अधिक कड़ा पड़ गया हूं। पर उसकी आवश्यकता

है। मैं पागल भी नहीं बनूंगा। रेणु-बालक को उन पागल माताओं से बचाऊंगा जो उसे चूम-चूमकर उसका दम घोंट रही हैं। मैं जानता हूं ऐसी माताओं की कमी नहीं हैं। मैं यह भी जानता हूं कि मेरी इस कड़ाई के बावजूद रेणु बचा रहेगा और जो कुछ बचा रहेगा वही उसका श्रेष्ठतम रूप होगा। रेणु के साहित्य के द्वारा वह खाद जरूर तैयार हो रही हैं जिस पर एक विशालतर साहित्य का और दिव्यतर रेणु का निर्माण होगा।

साहित्य और स्वप्न

मैं आपके सामने तीन उदाहरण रखूंगा, एक स्वप्न का, दूसरा दिवा-स्वप्न का, तीसरा एक उपन्यास का, जिससे यह स्पष्ट होगा कि तीनों के सृजनात्मक पहलू में कितना साम्य है। स्वप्नों में भी काव्य के क्षण होते हैं, दिवास्वप्नों में भी कल्पना का विलास सक्रिय रहता हैं और काव्य तथा उपन्यास में भी सपने रहते हैं। वास्तव में प्रत्येक सृजनात्मक कृति का निर्माण स्वप्न के तंतुओं को लेकर ही होता है 'Stuff that dreams are made of' और इसकी मूल प्रेरक शक्ति आती है सृजक की अचेतन (Uncon-scious) से। इन्ही दोनों के संयोग से विश्व को उन सारी दिव्य, रहस्यमयी, हृदय को दहला देने वाली, पृथ्वी पर ही स्वर्ग तथा नरक की सृष्टि लाने वाली कृतियों का जन्म होता हैं। चाहे वे रात की सुषुप्तावस्था के स्वप्न हो, दिन की जागृतावस्था के विविध अर्द्ध स्वप्न हों, चाहे दन्तकथाएं, कविता, लोक कथा, उपन्यास, मन्दिर, दीवाल की चित्रकारी, गिरि–गह्वरों में काट कर निकाली गई मूर्ति, दर्शन-शास्त्र

की नूतन पद्धति की आविष्कृति, और चाहे कितनी भी आश्चर्यजनक कृतियां हों। इन सब के मूल तत्व तथा मूल प्रेरक शक्ति एक ही हैं। इन सबों के सृजन करने वाले को स्वप्नद्रष्टा कहा ही जाता है और इसी के द्वारा इनके स्वप्नवत् रूप का आभास मिलता है। अतः, इन तीनों के मूल में एक ही शक्ति के कार्य करते रहने के कारण इनके बाह्य रूपाकार में भी कभी कभी बहुत ही साम्य हो जाता है।

पहले स्वप्न की बात लीजिए। एक मनुष्य दिन भर के कठिन परिश्रम से चूर-चूर हो, सोने जा रहा है। वह अपने मित्र से किसी बात पर झगड़ पड़ा है। अतः, इस बात को ले कर भी उसके मन पर बोझ है। किसी ने उसको सलाह दी थी कि तुम एक काम क्यों नहीं करते। काम से छुट्टी पा कर संध्या समय जब घर जावो तो उस व्यक्ति से टेलीफोन पर बात कर सारी बातें तय कर लो (Smooth the quarrels out)। पर भोजनोपरान्त वह परिक्लान्त हो जाने के कारण सीधे शयनागार में जाकर सो गया। स्वप्न में क्या देखता है कि वह अपने हाथ में वंसुला लेकर किसी लकड़ी के टुकड़े को छीलकर चिकना बना रहा है अर्थात् Smooth out कर रहा है। कहने का अर्थ यह है कि वह अपनी जागरणावस्था की घटनाओं की कथा को ही प्रतीकात्मक भाषा में दुहरा रहा है।

यह उदाहरण एक उपन्यास का है, वास्तविक स्वप्न का नहीं। स्वप्नों की ही प्रकृति के आधार पर एक साहित्यिक स्वप्न की सृष्टि कर ली गई है। हिन्दी का भारतेन्दु युग अपने साहित्यिक स्वप्नों के लिये प्रसिद्ध है। पर एक सच्चा स्वप्न लीजिए जिसका उल्लेख फ्रायड ने किया है। वह एक रोगिणी की चिकित्सा कर रहा था और वह उसकी मनोविकृति के वास्तविक मूल का पता लगना चाहता था। कहने की आवश्यकता

नहीं कि इस मूलोद्गम का पता चलाने के लिए स्वप्न कितने महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। उस रोगिणी ने एक बार स्वप्न देखा कि उसने एक बिल्ली को अपनी छाती से दबाया और वह बिल्ली मर गई। स्वप्न कुछ उटपटांग सा है। अन्त में चल कर फ्रायड को पता चला कि इस रोगिणी की एक सौतेली बहन थी जिसका नाम केट Kate था। उसकी सौतेली मां केट को बहुत प्यार करती थी पर इस रोगिणी को नहीं। इस दुराव को देख कर इस लड़की के हृदय में ईर्षा के भाव जगते थे और मन ही मन वह अपने स्नेहाधिकार के मार्ग में बाधा पहुंचाने वाली इस केट की मृत्यु कामना करती थी। अतः इस रोगिणी ने स्वप्न में बिल्ली (cat) को नहीं, अपनी सौतेली बहन Kate को ही गला घोंट कर मार डाला। कैट और केट इन दोनों शब्दों के उच्चारण में कितनी समता है। अतः, एक काल्पनिक स्वप्न और वास्तविक स्वप्न की प्रतीकात्मकता स्पष्ट हो जाती हैं। दोनों ही किसी वास्तविक घटना को ही काट छांट कर अपने ढंग से उपस्थित करते हैं।

दिवा-स्वप्न के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। एक भिखारी है। रोज लोगों से भिक्षा के रूप में चने प्राप्त कर अपना पेट भरता हैं। उसके पास कुछ चने जमा हो जाते हैं। बस क्या है? वह अपने घर बैठा है। चने की पोटली को देख कर उसकी कल्पना के घोड़े दौड़ने लगते हैं। चने एकत्र हो जाते हैं। वह उन्हें बेच कर कुछ पैसे बना लेता है। फिर वह फेरी लगाने लगता है, खोंमचे की दूकान करने लगता है। अब क्या है? पैसे आने लगे। कई दूकानें खुल गई। मिल, कोठी, कार सब कुछ प्राप्त है। पुत्र, कलत्र, धन-धान्य—पूर्ण, सफल जीवन!

अब उपन्यास की बात लीजिये। हेनरी जेम्स को अपने उपन्यास

Spoils of Poynton के निर्माण का बीज कहां से प्राप्त हुआ, उसकी कथा लिखी है। एक दिन किसी वार्तालाप के क्रम में उसके मित्र ने एक घटना सुनाई। एक मां अपने पुत्र को बहुत प्यार करती थी। पुत्र भी अपनी मां का बड़ा भक्त था। उसके पिता की मृत्यु सन्निकट जान पड़ती थी। पिता के पास कुछ बहुमूल्य Furniture थे। उनके ही उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर मां और पुत्र में पारस्परिक विरोध के भाव इतने उग्र हो गये कि वे आगे जानी दुश्मन बन गये हैं। बस इसी संकेत को लेकर जेम्स ने अपने उपन्यास की रचना की और इसके इर्द-गिर्द लेखक के अचेतन में काम करती रहने वाली शक्तियां इस तरह जुड़ गईं कि वहां एक दिव्य मूर्ति खड़ी हो गई जिस तरह बिखरी हुई सिकता राशि के बीच आप तार छेड़ दें तो वह उस की शक्ति के अनुरूप स्वयं एक चित्र की रचना हो जायेगी। स्वप्न में भी यही होता है, वास्तविक रूप से जागृत जीवन की घटी हुई घटनायें, जिन्हें day's residue कहते हैं ले ली जाती हैं। पर उस घटना-शृंखला की कुछ कड़ियों को छोड़ भी दिया जा सकता है, कुछ को विस्तृत रूप देकर, कुछ को संक्षिप्त कर, कुछ का स्थानांतरण एक-एक संगठित रूप में उपस्थित किया जा सकता है। कुछ के रूप को एकदम बदल भी दिया जा सकता हैं।

पर सब शोधन, परिशोधन, परिमार्जन अथवा संस्करण व्यक्ति के अचेतन की क्रिया-पद्धति के अनुरूप होता है और इस बात पर निर्भर करता है कि अचेतन के किस तार को छेड़ा गया है, कौन से अंश को स्पर्श किया गया है। एक फेरी वाले ने किसी गृहणी को सड़े हुए गोभी के फूल दिए। वह गृहणी मन ही मन इस तरह ठगी जाने के कारण असंतुष्ट है। तब स्वप्न में वह फेरी वाला भीमकाय व्यक्ति के रूप में उपस्थित होगा

जिसकी लम्बी-लम्बी दाढ़ी और मूछें हों। भले ही जिस फेरी वाले ने गोभी के फूल बेचे थे वह कृशकाय तथा अजातशमश्रु व्यक्ति हो। कारण कि घटना ने इस गृहणी की एलेक्ट्रा ग्रन्थि को कुरेदा और तत्कालीन परिस्थिति जग गई हों, और वह फेरीवाला उसके पिता का स्थानापन्न बन गया हो– वह पिता जिसकी बड़ी–बड़ी दाढ़ी मूछें थीं, जिसका डील–डौल चौड़ा था, जिससे वह चाहती थी कि वह एक बेवी प्राप्त करे पर पिता देता नहीं था। कभी कभी ये प्राचीन भावनायें इतने भयंकर और उग्र रूप में जागृत हो सकती हैं कि स्वप्न के रूप में आमूलचूल परिवर्तन हो जा सकता है। यह ठगी हुई नारी स्वप्न में बालिका बन जा सकती है, और अपने जन्म स्थान को लौट कर अपने पिता से किसी बात पर क्रुद्ध हो उसके सर पर बार बार तकिये से मार सकती है। कहने का अर्थ यह है उपन्यास तथा स्वप्न दोनों की गति एक ही है। दोनों की रचना किसी वास्तविक घटना तथा अचेतन की शक्तियों के पारस्परिक सहयोग से होती हैं।

यद्यपि स्वप्न, दिवा—स्वप्न तथा काव्यात्मक रचनायें तीनों व्यापारों की मूल प्रेरणा में अचेतन शक्तियां सक्रिय रहती हैं, पर इन तीनों में इनके कार्य करने के ढंग अलग अलग होते हैं। क्षेत्र और परिस्थिति की विशेषता के अनुसार शक्ति के कार्य करने की पद्धति एवं परिणाम में भी विभिन्नता आ जाती है। विद्युत शक्ति की धारा का मौलिक रूप तो एक ही है पर परिस्थितियों के अनुसार उसे पंखा चलाने का, रोशनी जलाने का, एवं बोझ उठाने का तथा सैकड़ों तरह के काम लिए जा सकते हैं। स्वप्न में भी अचेतन का विजृंभण है। परन्तु यह एक अन्य–लोक की वस्तु है। अन्य-लोक का मतलब यह कि स्वप्न का निर्माण मानस

के असाधारण स्तर पर होता है, वह अपना तानाबाना उस क्षेत्र में बुनता है जिसके द्वार की कुंजी निद्रा के पास है और किसी के पास नहीं। अतः, हमारे जागरण के चेतन व्यापारों, जिनमें दिवा-स्वप्नों एवं साहित्य-सृजन की भी गणना है, से वे सर्वथा भिन्न हो जाते हैं। यद्यपि इनमें आधार का साम्य अवश्य है परन्तु कार्य-क्षेत्र के सर्वथा विपरीत होने के कारण जो परिणाम सामने आता है उसके रूप में समानता के सूत्र को खोज लेना सहज नहीं। अतः, हम दिवा-स्वप्न एवं काव्यसाहित्य तक ही अपने को सीमित रखेंगे क्योंकि इन दोनों का निर्माण हमारे साधारण, जागृत, तथा दैनिक व्यापार में सक्रिय होने वाले मस्तिष्क के द्वारा होता है और दोनों के बाह्य रूपों में भी कुछ समता होती है।

दिवास्वप्न असामाजिक होता है, पूर्ण रूप से आत्म केन्द्रित होता है (Egocentric) रूप हीन होता है, इसके बाह्य आकार-प्रकार में किसी तरह का संगठन नहीं होता। इसके ठीक विपरीत साहित्यसृजन सामाजिक होता है। इसकी रचना दूसरों को प्रभावित करने, उच्छ्वसित करने के लिए होती है। इसके बाह्य रूपाकार में एक संगठन, सौष्ठव तथा समानुपात होता है और इसकी रचना करते समय रचयिता की दृष्टि आत्म केन्द्रित न हो, विश्व केन्द्रित होती है, अर्थात् जब वह इसकी रचना में प्रवृत्त होता है तो, उसके सामने पाठकों का एक बृहद् समूह वर्तमान रहता है। जिस व्यक्ति की कल्पना दिवास्वप्न की अवस्था में उन्मुक्त उडान लेने लगती है उस समय उसमें किसी प्रकार की लज्जा या शर्म का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि वहां दूसरे की गुंजाइश ही नहीं है। दिवा-स्वप्न में केवल प्रवृत्त होने वाला ही व्यक्ति उपस्थित है, अतः उसे घूंघट काढ़ने की जरूरत नहीं। वह अपने क्षेत्र का एक छत्र सम्राट है जिसके

अधिकार में कोई किसी तरह का दखल नहीं दे सकता। वह मानों कहता है

I am monarch of all I Survey,

My right there is none to dispute.

मैं सारे दृश्य जगत का स्वामी हूं। मेरे अधिकार को कोई चुनौती नहीं दे सकता।

प्रजातन्त्र की व्याख्या करते हुए प्रायः एक अंग्रेजी वाक्य का प्रयोग किया जाता है। Democracy is the Government of the People, by the People and for the People अर्थात् प्रजातन्त्र में जनता की, जनता द्वारा तथा जनता के लिए ही सरकार बनती है। उसी तरह दिवास्वप्न में व्यक्ति ही सर्वेसर्वा होता है। यह रचना व्यक्ति की, व्यक्ति के द्वारा, तथा व्यक्ति के लिए होती है। यदि दिवास्वप्न में नायक, जो स्वयं स्वप्नद्रष्टा है, के सिवा कोई व्यक्ति लाया भी जाता है तो उसका कोई पृथक व्यक्तित्व नहीं होता। उसका रूप गौण होता है और उनकी उपयोगिता स्वप्नद्रष्टा के रूप को, भावों को स्पष्ट करने के लिए होती है। स्वप्नद्रष्टा उन्हें मार सकता है, काट सकता है, नष्ट कर सकता है। उन्हें प्यार भी कर सकता है, घटना-क्रम के उन्हें थोड़ा बहुत स्थान भी दे सकता है। पर सबका उद्देश्य एक ही होगा स्वप्नद्रष्टा के स्वार्थ की सिद्धि, उसकी ही सेवा में अपने रूप को विलीन कर देना। इसी से दिवास्वप्नों को असामाजिक तथा आत्मकेन्द्रित कहा गया है। दूसरों के लिए बोधगम्यता की शर्त से यह मार्यादित नहीं। यहां पर स्वप्नद्रष्टा ही रचयिता है और पाठक भी। अतः, कह सकते हैं कि दिवास्वप्न एक ऐसी साहित्यिक रचना है जिसका लेखक और पाठक एक ही है। दूसरों को अपने स्वप्नों में सहभोक्ता होने के लिए वह आमन्त्रित नहीं करता।

पर काव्य-व्यापार की सामाजिकता स्पष्ट है। कविता निकलती है तो एक हृदय से पर अनेक हृदयों को प्रभावित तथा आनन्दित करती है। इतना ही नहीं कि वह समसामयिक व्यक्तियों को ही आनन्द प्रदान कर विरत हो जाये। वह युग-युग तक भिन्न-भिन्न रुचि के व्यक्तियो, भिन्न अवस्था में भावपुलक का संचार कर सकती है। संस्कृत के कवि ने काव्य के स्वरूप पर विचार करते हुए कहा है—

कविता-रस-माधुर्यं कविर्वेत्ति न तत्कवि।
भवानी-भ्रुकुटि-भंगं भवो वेत्ति त भूधरः॥

अतः, कहा जा सकता है कि पार्वती के रसास्वादन का ज्ञान जहां भूधर को होने लगेगा वह दिवास्वप्न का क्षेत्र होगा। पर व्यावहारिक जगत में, जो काव्य जगत है, तो पार्वती के रसास्वाद के अधिकारी हर ही हो सकेंगे।

कविता में रूप सौष्ठव का तत्व अनिवार्य है। इसके अभाव में काव्य का स्वरूप खड़ा हो ही नहीं सकता। यहां तक कि विचारको का एक दल तो काव्य के वाह्य रूप तत्व को ही काव्य–तत्व समझता है और इसी के आधार पर कविता के महत्त्व का मूल्यांकन करता है। इस तरह की Formal criticism के समर्थन करने वालों में बड़े बड़े गम्भीर विचारकों के नाम आते हैं। परन्तु दिवास्वप्न में रूप–सौष्ठव का प्रश्न ही नहीं उठता। वहां तो प्रायः एक ही बात, विषय, या घटना की पुन-रावृत्ति होती रहती है और उसी को अनेक परिस्थितियों में ले जा कर देखा जाता है। दिखाये जाने की तो बात ही वहां नहीं रहती। आप कोई भी ऐसी कहानी या उपन्यास नहीं पायेंगे, चाहे वह कितनी ही निकृष्ट

श्रेणी की क्यों न हो, जिसमें कारण-कार्य की शृंखला को बनाये रखने की चेष्टा न की गई हो, घटनाओं में पारस्परिक आदान-प्रदान न होता हो और चरित्र की विशिष्ठता की रक्षा करने का प्रयत्न न हो। कविता चाहे कितनी ही श्री हीन और लचड़ क्यों न हो वह दिवास्वप्न की अनगढ़ता, फूहड़पन, तरलता तथा बिखराहट की सतह पर नहीं आ सकती। दूसरी ओर दिवास्वप्न कितना ही संगठित क्यों न हो (कुछ एसे दिवा-स्वप्नों का उल्लेख मिलता है जो कथा की तरह प्रतिभासित होते हैं, जिसमें एक की चर्चा अभी ही होगी) वे कविता की सतह को छू नहीं सकते। कविता कितना ही झुके, दिवास्वप्न कितना ही ऊंचा उठने का प्रयत्न करे दोनों की खाई पाटी नहीं जा सकती। दोनों में पार्थक्य रहेगा ही।

कविता और दिवास्वप्न दोनों में ही इच्छा-पूर्ति की बात रहती है। दोनों का स्रष्टा अपनी किसी इच्छा की पूर्ति करना चाहता है जिसकी सम्भावना व्यावहारिक जगत की कठिनता के कारण चूर चूर हो जाती है। किसी दरिद्र, विपन्न, पद-दलित नायक की सम्पन्नता, समृद्धि तथा सफलता की कथा दोनों में ही रह सकती है। परन्तु दिवास्वप्न में अपनी मनोवांछित कामनाओंकी प्राप्ति की इच्छा इतनी उतावली रहती हैकि उसमें एक क्षण का भी विलम्ब असह्य होने लगता है। उसमें समय तत्व को मिटा देने की प्रवृत्ति होती है, चरम सीमा पर घटनायें तुरन्त पहुंच जाती है। उसमें एक अदम्य तात्कालिकता होती है। अतः बीच की कड़ियों को स्पष्ट होकर सामने आने का अवसर कम मिलता है। यदि आलंकारिकों की भाषा के सहारे कहूं तो यही कहा जा सकता है कि कविता, दिवास्वप्नों में वही अन्तर है जो उपमा, रूपक और रूपकातिशयोक्ति में है।

आपके सामने तीन वाक्य या वाक्यांश हैं। यह मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है (उपमा)। यह चन्द्रमुख कितना सुन्दर है (रूपक) यह चांद ऊगा हुआ है (रूपकातिशयोक्ति)। प्रथम में सारी बातें स्पष्ट हैं उपमान, उपमेय, साधारण धर्म, संयोजक शब्द सब वर्त्तमान हैं, अलग अलग। दूसरे में चन्द्रमा आकाश से जमीन पर उतर कर मुख के पास चला आया। हाँ, अपनी स्थिति को एकदम विलीन नहीं कर पाया है। संयोजक शब्द तो हट ही गया है। यह दिवास्वप्न है। तीसरे में सब को निगीर्ण कर केवल चांद ही रह गया है। यह हुआ स्वप्न। स्वप्न में आधार-वस्तु को ऐसी कायापलट हो जाती है कि उसका रूप ही तिरोहित सा हो जाता है। वास्तविकता का पता लगाना साधारण व्यक्ति के लिए कठिन हो जाता है। फिर भी स्वप्न के Manifest content के सहारे, कुछ मनोविज्ञान के सिद्धान्त के आधार पर Latent content का पता लगाया जा सकता है, जिस तरह चांद के सहारे मुख का। रूपक में, उपमेय में विकार अवश्य आ गया है पर वास्तविकता के चिन्ह एक दम लुप्त नहीं हो जाते। दिवास्वप्न में भी कल्पना मात्र का परिवर्तन भले ही कर दे, दरिद्रता को हर तरह से धन-धान्य सम्पन्न भले ही कर दे, पर आदमी को पशु नहीं बना सकती, Kate को Cat नहीं बना सकती। लेकिन स्वप्न में यह बात साधारण सी है। कविता में सारी बातें स्पष्ट रहती हैं जिस तरह उपमा के चारों चरण वर्तमान रहते हैं।

मनोविज्ञान के साहित्य में अनेक दिवास्वप्नों का उल्लेख तो मिलता है। पर ऐसे उदाहरण एक दो ही मिलते हैं, जिनमें दिवास्वप्न के द्रष्टा ने अपने स्वप्नों को लिपिबद्ध करने का प्रयत्न किया है। केवल Anna Freud ने एक स्थान पर अपनी एक रोगिणी महिला की चर्चा की है,

जिसने अपने दिवास्वप्न के आधार पर एक कहानी की रचना की थी। एक कहानी कहने से अधिक कहानियों की शृंखला की रचना कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि कहानियां ले दे कर एक ही थीं। एक शक्तिशाली व्यक्ति एक नर्बल निरीह व्यक्ति को बार-बार उत्पीड़ित करता है। पर अन्त में दोनों में सद्भाव की स्थापना हो जाती है। इस कल्पना के जटिल मूल उद्गम का पता लगाना कठिन है। स्वयं रोगिणी की स्मृति भी इसमें अधिक सहायक नहीं होती थी। वह इतना ही कह सकती थी कि इस तरह कल्पना में हल्का सा मैथुनिक रंग का पुट रहता और हस्तमैथुन की प्रवृत्ति होती। मनोवैज्ञानिकों ने जिसे Masterbatory action कहा है। उसका सम्बन्ध मानस की उस अवस्था से जोड़ा गया है जिसे Edipus situation कहते हैं, जिसमें पिता प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखा जाता है, एक प्रौढ़ व्यक्ति एक निरीह बार-बार पीटते हुए देखा जाता है। हमें इस स्वप्न के इस पहलू से विशेष मतलब नहीं। हमें देखना यह है कि जब तक यह दिवास्वप्न अपने आत्म केन्द्रित रूप में ही रहा तब तक इसका स्वरूप क्या रहा है? बाद में इसी दिवास्वप्न को लिपिवद्ध किया गया तो इसके स्वरूप में क्या परिवर्त्तन उपस्थित हुए। तब फिर यह विचार करना है कि दिवास्वप्न में इतना परिवर्तन हो जाने पर भी वह दिवास्वप्न ही क्यों बना रहा? आगे बढ़ कर साहित्यिक कहानी का गौरव क्यों नहीं प्राप्त कर सका?

पूर्व लिपिवद्धावस्था में कहानीयों थीं। 'एक मध्यकालीन सामंत कई वर्षों से अपने शत्रुओं के संगठित दल से युद्ध करता आ रहा है। एक युद्ध के अवसर पर उस सामन्त के सैनिकों ने एक पन्द्रह वर्ष के (दिवास्वप्न देखने वाले की अवस्था) राजकुमार को बन्दी बनाया। वह बन्दी सामंत

के गढ़ में लाया गया। वहां वह कुछ दिनों तक बन्दी बना कर रखा गया पर अन्त चल कर उसने पुनः अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करली" इस कहानी में दो ही पात्र तो मुख्य हैं, विशालकाय दुर्दान्त सामन्त तथा अल्पकाय कोमल राजकुमार। इन्हीं दोनों पात्रों को लेकर कहानी की रचना कितने दिनों तक होती रही। सब कहानियों का चरमोत्कर्ष वहां रहा जहां विशालकाय उत्पीडक सामन्त के हृदय में बालक राजकुमार के लिए दया और करुणा के भाव जगने लगते। प्रारम्भ में कुछ दिनों तक जिन कहानियों की रचना की गई। उनमें कथा धीरे-धीरे आगे बढ़ती और अपनी चरमावस्था पर पहुंचती और दोनों प्रतिद्वन्द्वियों में मैत्री भाव की स्थापना होती है। परन्तु बाद में इस अवस्था में परिवर्तन होता सा दीख पड़ने लगा। भूमिका भाग का तथा उस प्रारम्भिक भाग का लोप होने लगा जो चरम सीमा के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। यह सब के व्यावहारिक अनुभव की बात है कि लक्ष्य और उसकी सिद्धि में समय और साधन का व्यवधान होता है। हम उचित साधनों का उपयोग कर ही, उचित समय पर ही, उचित मार्ग से चल कर ही अपने लक्ष्य पर पहुंचते हैं। कबीर ने कहा है कि

हासी हंसि कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय
हांसी खेले पिय मिले, विरलो सुहागिन होय।

पर दिवास्वप्न द्रष्टा ऐसी ही सुहागिन होता है जो हांसी खेल में ही प्रिय को प्राप्त कर लेना चाहता है। रोने के लिए धैर्य उसे नहीं रहता। उसके लिए यह सम्भव भी नहीं है क्योंकि स्रष्टा भी वही, भोक्ता भी वही, तब यह विलम्ब क्यों? जब मां ही पूरी पका रही है तो उसका पूत तरसे क्यों?

अभी तक यह कहानी लिखी नहीं गई थी। मस्तिष्क में दिवास्वप्न के रूप में ही अवस्थित थी। कुछ वर्षों के बाद इस महिला ने इसे कहानी के रूप में लिपिबद्ध किया, तब इसमें परिवर्तन करने पड़े।

पहली बात तो यह है कि दिवास्वप्न के वर्त्तमान को कहानी का अतीत बनना पड़ा। दिवास्वप्न चाक्षुष और वर्त्तमान होता है, वह कल्पना के सामने घटता होता है। कहानी शाब्दिक होती है और अतीत घटना के रूप में उपस्थित होती है। अतः, यह वर्त्तमान का अतीत रूप धारण कर लेना प्रथम परिवर्त्तन हुआ। दूसरी बात यह कि अतीत व्यवस्था-प्रधान होता है, इसकी घटनाओं में एक व्यवस्था होती है, वर्त्तमान की तरलता नहीं होती। अतः अतीत के क्षेत्र में आरोपित होने के कारण अब जो कहानी लिखी गई वह अधिक संगठित थी, शृंखलित थी। एक नया पात्र भी लाया गया जो दिवास्वप्न में नहीं था। वह था बन्दी राजकुमार का पिता और इस नये पात्र की सामन्त के साथ वार्तालाप के माध्यम से ही सारी कहानी कही गई। यह बात भी देखी गई कि कहानी की चरमावस्था, जिसमें बन्दी राजकुमार तथा सामन्त में मैत्री तथा स्नेहभाव की स्थापना हो जाती है, का महत्त्व कम होने लगा।

कथाकार का सारा ध्यान पृष्ठभूमि तैयार करने, कारण-कार्य की कड़ियों को जोड़ने तथा कथा के रूप सौष्ठव के निर्माण करने में अधिक केन्द्रित होने लगा। पहले चरमावस्था का स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया जाता था। अब इस लिपिबद्ध कहानी में सारा वातावरण तैयार कर चरमावस्था पर पहुंचने का भार पाठक की कल्पना पर डाल दिया गया। पहले जहां फलागम, फल-प्राप्ति, चरमावस्था पर पहुंचने की जल्दबाज़ी

थी, वहां उसका स्थान कथावस्तु के निर्माण-कौशल ने ले लिया। दिवास्वप्न की असमाजिकता दूर होने लगी और कहानी आत्म-केन्द्रित अवस्था का त्याग कर एक श्रोता की अपेक्षा से गति में गम्भीरता लाने लगी। पहले दिवा-स्वप्न की अवस्था में प्रारम्भ कहानी, झट से फलागम पर पहुंच जाती थी। पर अब उसमें प्रयत्न, नियताप्ति इत्यादि अवस्थायें भी परिस्फुटित होने लगीं।

परन्तु फिर भी इस लिपिबद्ध दिवास्वप्न को कलात्मक-वस्तु अथवा कहानी नहीं कह सकते। कारण कि सब कुछ होते हुए भी इसमें आत्म-केन्द्रिता, स्वार्थ-प्रियता, उपभोक्ता की आत्मीयता से पिंड नहीं छूट सका है। उपभोक्ता स्रष्टा नहीं बन पाया है। उसकी अनुभूति आत्मानुभूति से आगे बढ़ कर काव्यानुभूति का रूप नहीं धारण कर सकी है। कलावस्तु-कविता, उपन्यास, नाटक जिसकी श्रेणी में आते हैं, के निर्माण का प्रश्न उपभोक्ता और स्रष्टा की दूरी का, पार्थक्य का प्रश्न है। जहां तक स्रष्टा ने उपभोक्ता से अपने को दूर कर लिया है, वहीं तक वह सफल कलाकार हो सका है। हम, आप, वे, राम, श्याम, मोहन, कालिदास, शैक्सपियर, निराला और पन्त सभी तो काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं। सबमें अनुभूति होती है,जिसकी अभिव्यक्ति वे करना चाहते हैं, पर फिर भी वे कवि कहला गये, अमर बन गये, पर मैं कुछ भी नहीं बन सका? मेरी रचना एक क्षण तक भी जीवित न रह सकी, ऐसा क्यों? उनकी उपलब्धि का रहस्य अपनी वास्तविक अनुभूति की यथातथ्यता से अपने को हटा कर उन्हें एक बृहद्-क्षेत्र में रखने की शक्ति में है। जिन्हें हम निम्न श्रेणी का कथा-कार कहते हैं उनमें भी स्वार्थानुभूतियों की साक्षात् तात्कालिकता से द्रष्टव्य

दूरी पर ही सृजन कार्य प्रारम्भ होता है और अनुभूतियों को 'स्व' की सीमा से हटा कर 'पर' के विशाल क्षेत्र में स्थापित करने की चेष्टा होती है ।

इसी पार्थक्य वाली बात को Id, Ego, Superego इत्यादि शब्दों के सहारे भी समझा जा सकता है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में ये शब्द प्रसिद्ध तो हैं ही । साधारण साहित्य के विद्यार्थी के लिये भी ये शब्द सहज हो चले हैं। Idमें हमारी मूल आदिम प्रवृत्तियां स्वच्छन्द रूप में विचरण करती हैं। वहां व्यक्ति एक तरह से अद्वैत क्षेत्र का निवासी होता है, 'एकोहं द्वितीयो नास्ति', वहां इच्छा तथा उसकी पूर्ति में कोई भेद नहीं। बालक की इच्छा दूध की हुई नहीं कि वह प्राप्त हुआ। उसे प्राप्त होना ही है, अविलम्ब ! मां का दूध देने वाला स्तन दूध चाहने वाले बालक से पृथक भी है और कभी-कभी दूध नहीं भी दे सकता, यह Id की समझ के बाहर की बात है। मैं आगे यही कहने जा रहा हूं कि स्वप्न-पूर्ति के निर्माण में Id की शक्तियों की प्रमुखता रहती है, दिवास्वप्न के निर्माण में Ego की तथा उपदेशों, प्रवचनों एवं सोद्देश्य साहित्य के निर्माण में Super-ego की। अतः, इनके स्वरूप पर ठहर कर विचार लें तो हमें अपने विषय को समझने में सहायता मिलेगी ।

Id सर्वथा आनन्द-मूलक होता है। Pleasure Principle पर काम करता है। आन्तरिक या वाह्य उत्तेजना से मनुष्य के अन्दर जो एक तनाव सा आ जाता है, एक भार सा, दबाव सा महसूस होने लगता है उसकी निवृत्ति, उससे मुक्ति उसका प्रधान लक्ष्य होता है। नासिका-रंध्र के संवेदनशील तन्तुओं में किसी वाह्य वस्तु के स्पर्श से सुरसुराहट पैदा हुई। बस छींक आई और परिस्थिति की अनुकूलता से मुक्ति हुई।

यह Id का मौलिक रूप है। यह बहुत लचीला होता है, अपने लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा होने पर यह बड़ी आसानी से अपने लक्ष्य तथा वांछित वस्तु के रूप में परिवर्तन कर ले सकता है। मानिये कि वह जो मेरी चाची है न, मेरी इच्छा होती है, कि उसे ठोकर मार कर सीढ़ी से नीचे पटक दूं, पर यह कठिन काम है। अतः, मैं उसे न मार कर उसके कुत्ते को मारने लगूंगा। पत्नी अपने पति पर नाराज होती है तो वह अपने क्रोध को पुत्र पर निकालती है, यह तो दैनिक अनुभव की बात है। गोपियां जब कृष्ण पर रुठीं और उन्हे कुछ कहने सुनने की इच्छा हुई तो बंसी को ही खरी-खोटी सुना कर अपने मन के गुब्बार को निकाल लिया। अत: Id की सहायिका मानसिक पद्धति को Primary Process कहा जाता है। इसमें किसी वस्तु को आत्मनिष्ठ स्मृति तथा उसके बाह्य आकलन में क्या अन्तर है यह स्पष्ट नहीं होता। प्यासे की कल्पना बालू के कण में भी पानी की धारा देखती है, भूखे को चांद और सूरज भी रोटी के टुकड़े की तरह दीख पड़ते हैं। यह साहित्यिक भाषा मात्र ही नहीं है। मानस की एक अवस्था होती है जिसमें यह बात सही होती है। Id में कोई तार्किक संगठन नहीं होता, कारण-कार्य की श्रृंखला की परवाह वहां नहीं होती। यह आत्मनिष्ठ वास्तविकता का संसार है, आनन्द की खोज तथा दुख की तिरस्कृति, यही एक मात्र कार्य है!

परन्तु देर या सबेर व्यक्ति को ठोस वास्तविकता का सामना करना ही पड़ता है। भूख लगने से ही और रोटी की मूर्ति देख लेने से ही तो पेट नहीं भरता। कल्पना कीजिए कि आप छत पर है, भूख के मारे व्याकुल हैं, नीचे रोटी पड़ी दिखलाई दी, Id तो कहना है कि बस अब विलम्ब क्यों ? पर यदि व्यक्ति उसी के संकेत पर चले तो कूद कर हड्डी

पसली एक कर ले । Ego कहता है कि नहीं ऐसा न करो, थोड़ा ठहरो, सीढ़ी से धीरे-धीरे उतर कर जावो और व्यक्ति ऐसा करता भी है। इसमें रोटी रूपी वाह्य उत्तेजना से हमारे अन्दर जो तनाव की स्थिति आई उससे तत्काल मुक्ति नहीं हुई,उसमें विलम्ब हुआ। यहां की मानस-प्रक्रिया को Secondary Process कहा जाता है और इसमें, आदमी में, समय और स्थान पर नियन्त्रण करने की क्षमता आने लगती है। मनुष्य बाहरी सम्पर्क में आने के कारण अनुभव से सीखने लगता है। Id में वाह्य वस्तु की सत्ता है ही नहीं, सब कुछ 'स्व' है, 'पर' है ही नहीं। अतः, अनुभव प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहां आकर मानसिक आत्मनिष्ठ संसार तथा वाह्यनिष्ठ वास्तविक संसार का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। दोनों को एक में मिला कर देखने की भूल यहां नहीं होती। इसी को मनो-वैज्ञानिक शब्दावली में कहा जाता है कि Ego Reality Principle पर काम करता है।

ऊपर जिस Case History का उल्लेख किया गया है और जो तीन पहलू दिखलाये गये हैं उन पर पुनः विचार करें। साहित्यिकता, कलात्मकता के पास पहुंचने के लिए इसे तीन कदम उठाने पड़ते हैं। प्रथ-मतः तो कल्पना के जागरित होते ही, मतलब दिवास्वप्न के उद्भवमात्र से ही, Masturbation fantasy के द्वारा अपनी काम-वासना की तृप्ति की समस्या खड़ी हो जाती है। अर्थात् इसमें क्रियात्मकता प्रधान है। दूसरी अवस्था में दिवास्वप्न के स्वरूप में और विस्तार आता है जिसमें कामुकता का अंश है तो सही पर उसका रूप गौण होने लगता है, दूसरी-दूसरी कहानियां आकर उसे मौलिक कार्य क्षेत्र से दूर रखने लगतीं हैं। तीसरी लिपिबद्ध अवस्था में आकर दिवास्वप्न में निर्मित कथा

में एक संगठन की मात्रा आ जाती है। यह पता नहीं कि इस रोगी के सन्मुख दिवास्वप्न की लिपिबद्ध कथा-सृष्टि के समय कोई श्रोता ध्यान में था या नहीं। वह जिस समय इस तीसरी अवस्था में कथाओं का ताना-बाना बुनने लगा उस समय वह यह चाहता था या नहीं कि कोई दूसरा व्यक्ति भी उसे पढ़े। पर मनोविज्ञानवेत्ताओं ने दूसरे-दूसरे Cases का अध्ययन कर जो परिणाम निकाले हैं उससे तो इसी विश्वास की पुष्टि होती है कि उसके सामने किसी न किसी रूप में श्रोता अवश्य वर्तमान था। वह श्रोता भले ही कोई अन्य व्यक्ति न होकर स्वयं हो, पर वक्ता और श्रोता में पार्थक्य का अंकुर उगने जरूर लगा था। दिवास्वप्न की असमाजिकता में दरार पड़ने लगी थी और उनमें समाजोन्मुखता के तत्व आने लगे थे।

यदि हम इसको बेधड़क पूर्ण-विकसित कहानी नहीं कह देते, जैसे प्रेमचन्द या प्रसाद की रचनाओं के बारे में कह देते हैं, तो इसका एकमात्र कारण यही है कि इसमें अभी तक प्रेरक शक्ति के स्वरूप का ठीक तरह से शुद्धीकरण नहीं हो सका है, जिसे मनोवैज्ञानिक शब्दावली में Sublimation कहा जाता। शक्ति तो सब जगह रहती ही है। आज कल के वैज्ञानिक तो Matter को भी Energy का पूंजीभूत रूप मानते हैं। प्रश्न तो यह है कि वह Energy जो एक दूसरे काम में लगी हुई है, अच्छे या बुरे, उसे वहां से हटा कर दूसरे मार्ग में किस तरह प्रवृत्त किया जाय। इसके लिये हमें पहले इसे Neutralise करना होगा। पारद को जब तक अच्छी तरह भस्म नहीं कर लेते तब तक हम उसका जीवन–प्रद रासायमिक औषध के रूप में प्रयोग नहीं कर सकते।

कला वस्तु की निर्मिति के लिए, यह सब जानते हैं, कि मानसिक शक्तियों को Sublimate करना पड़ता है। इस Sublimation के दो पहलू होते हैं, जिनके पार्थक्य पर ध्यान प्रायः नहीं दिया जाता। उदात्ती-करण के लिए प्रथमतः तो शक्ति को असमाज-सम्मत लक्ष्य से हटा कर समाज-सम्मत लक्ष्य की ओर प्रेरित करना पड़ता है। पर इतने से ही काम नहीं चलता। आगे बढ़ कर काम करने वाली शक्ति के रूप में भी संशोधन करना पड़ता है। अर्थात् लक्ष्य तथा रूप दोनों में परिवर्तन आव-श्यक होता और यह कोई आवश्यक नहीं कि दोनों में परिवर्तन एक साथ ही हो जायें। मान लीजिये आपने अपनी काम शक्ति को मोड़ कर किसी उच्च धार्मिक कृत्य की ओर मोड़ दिया। यह है तो ठीक। पर यह भी ठीक है कि आप जिस त्वरा के साथ, जोश-खरोश के साथ, अदम्यता के साथ, लाचारी और बेबसी के साथ, इस उच्च कृत्य में प्रवृत्त हों, उसमें कामुकता की बू मौजूद हो। अर्थात् आपकी शक्ति में वह मूल प्रवृत्यात्मक गुण लगा ही रह गया हो।

शुक्ल जी ने कहीं लिखा है कि मैंने ऐसे बहुत से उपदेशकों को देखा है जो विधवाओं की दीन दशा का वर्णन बड़ा ही विस्तारपूर्वक करते हैं पर फिर भी उनके शब्दों में एक ऐसी शक्ति होती है जो पुकार पुकार कर कहती है कि यह तो कामुकता का ही प्रच्छन्न रूप है। जाने दीजिये शुक्ल जी के उदाहरण को। आपने बहुत सी ऐसी कहानियां पढ़ी होंगी जिनके उद्देश्य बड़े ऊंचे होते हैं, लोगों के अन्दर नैतिकता को जागरित करना, व्यभिचार को रोकना, स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध की मर्यादा की प्रशस्ति गाना। पर उनके वर्णन करने का ढंग कुछ ऐसा मजेदार हो जाता है, भाषा कुछ ऐसी लज्जतदार हो जाती है कि जिसके विरुद्ध जिहाद बोला जाता है

उसके ही प्रति पाठक के हृदय में दिलचस्पी उत्पन्न होने लगती है। दूसरी ओर इसके ठीक विपरीत बात भी देखी जाती है। लेखक स्पष्ट वक्ता हैं, यथार्थवादी है, समाज के नग्न रूप का चित्रण करने से कतराता नहीं, उपदेश भी नहीं देता पर फिर भी पाठक में वर्ण्य वस्तु के प्रति आसक्ति उत्पन्न नहीं होती। ऐसा क्यों ? इसीलिए कि उसने मूल प्रेरक शक्ति को धो पोंछ कर Neutralise कर दिया है, उसका शुद्धीकरण हो गया है। अतः, उसकी रचना में Sexualisation या Aggressivization नहीं है। इसी तरह हम यहां पायेंगे कि तृतीय लिपिबद्ध अवस्था में भी जिसे हम शक्ति का शुद्धीकरण या Neutralise करना कहते हैं वह ठीक तरह से नहीं हो पाया है। जिस ढंग से घटनाओं की योजना की गई है उसमें एक ऐसी त्वरा है, उमंग है, स्वतःप्रेरिता है जो साहित्य में नहीं रहती और न होनी चहिए।

हमने ऊपर स्रष्टा और भोक्ता के पार्थक्य की बात कही है। भोक्ता से दूर होकर ही कला-वस्तु की सृष्टि हो सकती है, साहित्य का सृजन हो सकता है। यह बात तब और भी स्पष्ट होगी जब हम स्वप्न या दिवास्वप्न के क्षेत्र को छोड़ कर साहित्य के क्षेत्र में आ जायं और साहित्य के विविध रूपों पर विचार करें। साहित्य का कितने ढंग से वर्गीकरण हो सकता है तथा इसमें श्रेणियां स्थापित हो सकती हैं। पर उनसे हमारा मतलब नहीं और न हम विस्तार में जाना ही चाहते हैं। पर हम साहित्य की दो श्रेणियां तो बड़े मजे में बना सकते हैं हल्का मनोरंजक तथा गम्भीर। अंग्रेजी में इसे Light तथा Serious कह सकते हैं। प्रथम में दिलबहलाव, Intertainment तमाशबीनी

की प्रधानता होती है। पाठक के हृदय को सहला देना, उसकी मनो-वांछित वस्तु को तुरन्त उपस्थित कर देना, बालक को झुन-झुना बजा कर चुप कर देना उसके उद्देश्य होते हैं। दूसरे में मनोरंजन की प्रवृत्ति नहीं रहती, सारे वातावरण में अवसाद की छाया वर्त्तमान रहती है, हृदय की पीड़ा जागृत करने की प्रवृत्ति होती है। साहित्य में Comedy और Tragdey नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। सुखान्त और दु:खान्त साहित्य से सब परिचित हैं। हम यह भी जानते हैं कि वह ट्रेजिडी जिसमें नायक को हर तरह की पीड़ा का सामना करना पड़ता है, विपत्तियां उठानी पड़ती हैं, और भरी जवानी में सारे अरमानों को लिये दिये मृत्यु की गोद में चला जाना पड़ता है। उसकी गणना उच्चस्तर कोटि के साहित्य में होती है। विश्व का सारा श्रेष्ठ साहित्य ट्रैजिडी है और उसने लोगों को प्रभावित किया है। इसका क्या कारण है ?

इसका कारण यह है कि प्रथम कोटि में आने वाले मनोरञ्जन साहित्य में भले ही आ गये हों, पर अभी तक वे दिवास्वप्न वाली अवस्था को सर्वथा छोड़ नहीं सके हैं। बालक पूर्णरूप से weened नहीं हो सका है, दूध नहीं छोड़ सका है। अन्न खाने लगा है तो क्या, उसे मां के स्तन की याद आ ही जाती है।

> सघन कुञ्ज, छाया सघन, शीतल मंद समीर।
> मन अजहुँ चलि जात ह्वै, वा जमुना के तीर ।।

वाली अवस्था बनी रहती है। वह तुरन्त अपनी इच्छा-पूर्ति कर लेना चाहता है, क्षण भर का व्यवधान उसके लिए असह्य है। 'क्षण भर की चेतनता अब सह्य नहीं ओ भोली'। यह सुखद अन्त वाला साहित्य

भी तो यह छोड़ और क्या करता है । इस Happy ending वाले साहित्य में दो विछुड़े प्रेमी मिल जाते हैं, किसी दुर्दान्त खल से उद्धार कर नायक नायिका से विवाह कर लेता है, किसी रहस्यमय ढंग से कोई समस्या सुलझ जाती है, किसी तावीज या गुप्त पत्र के द्वारा विपन्न बालक किसी बड़ी धन-राशि का उत्तराधिकारी हो जाता है । ऐसे उपन्यासों की एक परम्परा ही रही है और आज भी है । शकुन्तला के बारे में दुष्यन्त के हृदय में एक बार शंका जरूर उठेगी पर वह तुरन्त शान्त हो जायेगी ।

अशसयं त्तत्रपरिग्रहक्षम यदस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतांहि सन्देह पदेषु प्रमाणमन्तकरणप्रवृत्तयः ।।

इच्छा-पूर्ति के मार्ग में बाधा नहीं आवें सो बात नहीं । बाधायें तो आवेंगी । तरह-तरह की जटिलतायें भी आवेंगी । परन्तु वे अन्तिम रूप में इच्छा-पूर्ति का रंग गाढ़ा करने के लिए ही आवेगीं । देर होने दो, कोई परवाह नहीं । 'देर पके फल मीठा होय ।' इससे मिलन-सुख में वृद्धि ही होगी । इस तरह का प्रश्न एक बार संस्कृत के अलंकार शास्त्रियों के सामने भी आया था । समस्या थी कि खलनायक के गुणों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया जाय या नहीं । उसमें वीरत्व, शौर्य, वीर्य को दिखलाया जाय या नहीं । एक ने कहा कि नहीं ऐसा नहीं करना चाहिए । यदि ऐसा करेंगे तो पाठकों के द्वारा नायक के लिए सुरक्षित सहानुभूति मे वह भी हिस्सा बटाने लगेगा । अतः यहां गुणहीनता ही श्रेयस्कर है ।

दूसरे दल वालों ने कहा कि ऐसा नहीं । खल का भी वर्णन विस्तार-पूर्वक होना चाहिए और उसमें सद्गुणों का आरोप होना चाहिये । ऐसे शक्ति-सम्पन्न शैतान को पछाड़ने में नायक के गौरव की वृद्धि ही होगी ।

जो स्वयं निश्शक्त है, उसे मारने में क्या वीरता है। मच्छर मारने में तो वीरता नहीं ! पर दोनों दलों की वाह्य विभिन्नता रहते भी एकता थी। दोनों नायक की विजय देखना ही चाहते थे। अतः, सारी पेचीदगियों के रहते भी उनकी मौलिक एकरूपता में कोई अन्तर नहीं आया। वे दिवास्वप्न मात्र थे। उनमें इच्छा पूर्ति की तात्कालिक अदम्यता मुखर थी। यही कारण था कि ये साधारण बुद्धि वाले, अपरिपक्व मस्तिष्क वाले, वचकाना दिमाग वाले पाठकों को, जैसा कि अधिकांश पाठक होते हैं, बड़े प्रिय भी थे। पाठकों के अन्दर भी उनके द्वारा दिवास्वप्न का ही जागरण होता था—वह दिवास्वप्न जिसमें इच्छा-पूर्ति की क्रियात्मकता की ही प्रधानता रहती है।

सच पूछिये तो ऐसी Happy-ending वाली सुखान्तक कथाओं में से उनकी सामाजिकता निकाल ली जाय अर्थात् इतनी सी बात दूर कर दी जाय कि वे समाज के अनेक व्यक्तियों को प्रभावित करने की दृष्टि से लिखी गई हैं तो उनमें और साधारण तरह के दिवास्वप्नों में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। इस तरह की कथाओं के लोकप्रिय होने का कारण यह भी है कि इनके द्वारा मनुष्य के अन्तर-प्रदेश के कोने में दुबकी हुई इच्छाओं की प्रातिनिधिक तथा प्रतीकात्मक पूर्ति की समस्या सहज ही हल हो जाती है। पाठक अपने मानस की गुप्त क्रिया Identification के द्वारा नायक के साथ तारात्म्य कर लेता है और उसके माध्यम से अपनी ही इच्छापूर्ति का आनन्द उठाता है। इस तरह के साहित्य स्रष्टा उस पद्धति का सहारा लेते हैं जिसे अंग्रेजी में Dummy Technique कहा जाता है। आपने देखा होगा कि बाजारों में या मेलों के अवसर पर ऐसे फोटोग्राफर होते हैं जिनके पास हर तरह के चित्र (Dummy) होते हैं। आपकी

इन चित्रों के सामने बैठ जाना पड़ता है और आप चाहें तो नाविक के रूप में, पर्वतारोही के रूप में, ग्वाले के रूप में, तैराक के रूप में अपना फोटो खिंचवा सकते हैं ।

परन्तु गम्भीर साहित्य को, जो दिवास्वप्न से बिलकुल पृथक वस्तु है, इस तरह के टेकनीक की आवश्यकता नहीं पड़ती और वह जानबूझ कर भी इसका परित्याग करता है। क्योंकि वह जानता है कि इस तरह के दिवास्वाप्नों का कोई स्थायी असर मानव जीवन पर नहीं होता । लोग होते हैं जो आजीवन मन के लड्डू खाते रहते हैं, Predicate thinking करने में ही जीवन व्यतीत कर देते हैं । उन्हें इस बचपन से बचाना भी साहित्य का उद्देश होता है, भले ही वह प्रत्यक्ष न हो अप्रत्यक्ष हो, ठोक-पीट कर वैद्यराज बनाने से अधिक कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे हो, पर साहित्य इस उत्तरदायित्व से अपने को मुक्त नहीं कर सकता ।

वाह्य दृष्टि से देखने पर तो यही प्रतीत होता है कि सुखान्त कथायें, उपदेश देने वाली उक्तियां जो पाठकों की मांग के सामाजिक रूप को ही लेकर चलती हैं, जिनमें समाज कल्याण की प्रशस्ति डंके की चोट पर गाई जाती है, लोगों की 'कल्पना पर अधिक प्रभाव जमाये रख सकेंगी। पर व्यवहारतः ठीक इसके विपरीत ही बात देखी जाती है। इन कथाओं से तथा एतादृश साहित्य से क्षणिक मनोरंजन तो हो जाता है। जब तक पाठक पढ़ रहा है तब तक इनका प्रभाव भी उसके मन पर पड़ता है पर पुस्तक की समाप्ति पर आते-आते उनकी पकड़ पाठक के मानस पर से छूट जाती है।

हम इन्हें भूल जाते हैं। मानस में सक्रियता बनाये रखने के लिए, शक्ति की गर्मी कायम रखने के लिए नये सुखान्तक Doses की

आवश्यकता पड़ती है और बाजार में उनकी कमी भी नहीं है, सस्ते मनोरंजन व कहानियां मिल भी जाती हैं सहजता से। मनोरंजक कहानियों, की क्या कमी है ? कमी है तो रुपाभ की, प्रतीक की, अवंतिका की ! पर हमारे सांस्कृतिक तथा बौद्धिक विकास में, दूसरे शब्दों में हमें मानवता को उच्चस्तर पर लाने में अधिक महत्त्व किसका है, यह किसी से छिपा नहीं है। आगे आने वाली संतति जब अपने विकास के चरण चिन्हों को खोजने लगेगी तो उसका ध्यान मनोहर कथाओं की ओर नहीं जायेगा। ऐसा क्यों ? कारण तो बहुत से दिये जा सकते हैं पर एक यह भी है कि पहला दिवास्वप्न हैं, उसे वास्तव की यथार्थता का ज्ञान नहीं। दूसरा साहित्य है, सच और झूठ की उसे पहचान हैं। वह आंख मूद कर नहीं, आंख खोल कर चलता है।

साहित्यिक कृतियों का विभाजन एक दूसरे ढंग से भी किया जाता है। रोमांटिक और क्लासिक। इन दोनों प्रकार के साहित्य में अनेक तरह के अन्तर हो सकते हैं। परन्तु एक बात तो स्पष्ट ही दिखलाई पड़ती है कि रोमांटिक साहित्य में कवि की आन्तरिक इच्छाओं को अदम्य और अप्रतिहत वेग से सामने आ जाने की प्रवृत्ति होती है। नायक को नीलम देश की राजकन्या, Holy grail या डिबिया की रानी की खोज में निकल पड़ने तथा राक्षसों को मार कर उसके उद्धार करने की उतावली रहती है। तारीफ यह कि उद्धार करने वाला सदा निरीह, सुकुमार और कोमल-गात बालक होगा, उसे कठिन से कठिन विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा, उसका प्रतिद्वन्द्वी हर तरह से शक्ति-सम्पन्न होगा, उसकी काया लम्बी चौड़ी होगी, पर फिर भी वह राजकुमार के हाथों परास्त होगा। एक बालक के हृदय में जो भावात्मक संघर्ष है, आत्म-गौरव की

भावना है, स्वरति (narcissism) है, उसी की ठीक प्रतिमूर्ति इस साहित्य में मिलती है। इसमें विद्रोह के स्वर रहते हैं। मर्यादा की अवहेलना, नियम और प्रतिबन्धों की अवहेलना कर, सब प्रतिबन्धों और परम्पराओं को किनारे रखकर, अपने लक्ष्य पर पहुंचने की उतावली रहती है। इसके रचयिता किशोर बालक होते हैं। इसमें पुत्र के द्वारा पिता के प्रति, विरोध की भावना मौजूद रहती है। इसमें भावनाओं का साम्राज्य रहता है जो बालकों का विशेषाधिकार है। अर्थात् इसमें ego की शक्तियां Id के क्षेत्र के समीप काम करती सी दिखलाई पड़ती है। यह अवश्य है कि Id की समीपता ऐसी नहीं है कि ego को किसी क्रियात्मक ढंग से प्रभावित करे, पर प्रभाव अवश्य पड़ता है और कभी-कभी सूई सी हिलती दिखलाई पड़ जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि रोमांटिक काव्य बहुत कुछ दिवास्वप्न के समीप पड़ता है।

दूसरी बात एक और भी है। रोमांटिक काव्य के पाठक में और क्लासिक काव्य के पाठक में स्वाभाविक रूप से प्रतिक्रिया उत्पन्न होने की जो प्रवृत्ति होती है उसमें भी अन्तर है। रोमांटिक कवितायें वर्ण्य विषय की ओर पाठक का ध्यान नहीं आकर्षित करतीं, परन्तु कवि अथवा स्रष्टा की मानसिक स्थिति की ओर देखने को प्रवृत्त करती हैं और इसी मार्ग से उनकी ओर देखने पर कुछ उपयोगी बातें मिलती हैं। वर्डस्वर्थ का Immortality ode; कालरिज का Dejection ode, महादेवी या रामकुमार वर्मा की गीतियों का रसास्वादन कवि के मानसिक स्वास्थ्य के आलोक में ही ठीक तरह से हो सकता है। इन में कवि का आत्मतत्त्व अधिक से अधिक है, Id में काम करने वाली शक्तियां बस ego के आस-पास ही झांकती सी दिखलाई पड़ती हैं। कला का काम अचेतन

में काम करने वाली शक्तियों को परिमार्जित कर, sublimate करके उपस्थित करना होता है, उसके लक्ष्य तथा शक्ति दोनों के रूप को परिवर्तित करना पड़ता है। परन्तु रोमान्टिक साहित्य में कभी-कभी ऐसा लगने लगता है कि यह कलई अब खुली, अब खुली। उदाहरण के लिए यह कविता लीजिए,

> करुणामय को भाता है तम के पर्दे में आना
> हे नभ की दीपावलियों! क्षण भर को तुम बुझ जाना।

इन पंक्तियों के संकेत सूत्र को पाकर कवि के वैयक्तिक जीवन के क्षेत्र में जाकर वहां के दृश्यों के देखने का स्वाभाविक प्रोत्साहन मिलता है। जिस तरह दिवास्वप्न को देखने वाला अपना नायक स्वयं होता है, और सारे वातावरण को अपनी सेवा में नियोजित करता है, उसी तरह रोमांटिक कवि में भी अपना नायक बनने की, अपनी कथा कहने की प्रवृत्ति होती है।

मैंने यहां जिस सिद्धान्त की स्थापना की है उसकी ओर दूसरों का ध्यान नहीं गया हो सो बात नहीं है। हिन्दी के कविवर पंत को रोमांटिक कवि मान लेने में किसी को विशेष आपत्ति नहीं होगी। श्री नन्ददुलारे बाजपेयी जी का ध्यान इस पहलू की ओर गया था और पन्त के 'उच्छ्वास' तथा प्रसाद के 'आंसू' की कुछ पंक्तियों पर विचार करते हुए इस बात की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया था कि इन स्थलों में कवि की काव्यानुभूति से अधिक वैयक्तिक अनुभूति ही अधिक मालूम पड़ती है। अर्थात् इन कविताओं में वर्णित प्रेम वास्तविक है, कवि के आत्म-जीवन

से सम्बन्धित है, काल्पनिक नहीं। श्री वाजपेयी जी के शब्द ये हैं।

पन्त जी इसे "कल्पनाओं की कल्पलता" कह कर अपनाते हैं, इसलिए बालिका का शारीरिक अस्तित्व कल्पना में विलीन होता जान पड़ता है पर साथ ही 'अदेह सन्देह के कारण' जुड़े स्वभाव छुड़ाने आदि की घटनाएं फिर बीच में विक्षेप डालती हैं। यह अस्पष्टता कविता के लिए काम्य नहीं हुई है। निष्कर्ष तो केवल दो ही निकल सकते हैं....यदि दूसरे निष्कर्ष के अनुसार देखें तो 'उच्छ्वास' की बालिका यौवनागम के द्वार पर खड़ी अपने प्रिय के परिणय-पाश में बंधने से वंचित अवश्य ही करुण है और उसके निराश प्रेमी के 'आंसू' भी अवसर-जन्य ही हैं परन्तु यह सब वर्णन-सम्भवतः पन्त जी के उस समय के संकोच के कारण स्पष्टता नहीं प्राप्त कर सका है।' इस बात को स्वयं पन्त ने भी स्वीकार किया है कि इन कविताओं में उनके व्यक्तिगत जीवन की झलक अवश्य है—हां, उच्छ्वास में मेरे व्यक्तिगत जीवन का कुछ प्रभाव आ सकता है।

पर क्लासिक साहित्य में सारी बातें इसके विपरीत होती हैं। वहां पर वर्ण्य-वस्तु तथा उसके वाह्य रूपाकार की पालिश, सौष्ठव, समानुपातिक संगठन का अधिक महत्त्व होता है। वहां उबलते हुए कडाह की उमड़न या उछलन नहीं रहती, आंधी और तूफान की हिंसात्मक उग्रता नहीं रहती है। भाव-संघर्ष, अचेतन शक्तियों की गुत्थं-गुत्थी, आदिम प्रवृत्तियों की कशमकश वर्त्तमान रहती है अवश्य,कारण कि उनके अभाव में कला का जन्म ही नहीं हो सकता पर उन पर Id का पूरा नियंत्रण रहता है, उनके प्रवाह के लिये उचित मार्ग दे दिया जाता है। नदी की बाढ़ को बांध कर उसके प्रवाह को समधजोपयोगी तथा जीवन-प्रदायक कार्यों की

और मोड़ दिया जाता है । कोसी आंसुओं की नदी कही जाती है, उसकी प्रलयंकारी बाढ़ हजारों परिवारों के जीवन को तहस-नहस कर देती है। पर उस पर बांध बांध कर हम उससे व्यक्तियों के जीवन में मुस्कानों के पुष्प खिलाने का काम ले सकते हैं, आंसू बहाने के बदले आंसू पोंछने का काम ले सकते हैं। क्लासिक में ही साहित्य या कला का वास्तविक रूप निखर कर सामने आता है। रोमांटिक में वह अपनी अविकसित अवस्था में ही रहता है। क्योंकि रोमांटिक साहित्य को जन्म देने वाली मानसिक अवस्था बहुत कुछ मनोविकृति (Pathology) के क्षेत्र के आसपास पड़ती है। इसमें दिवास्वप्न के सारे चिन्ह वर्त्तमान हैं, सिवाय इसके कि इसमें सामाजिकता और प्रेषणीयता का समावेश हो गया है।

दिवास्वप्न स्वकेन्द्रिक होता है, कला या साहित्य परकेन्द्रिक। जब मन अपने 'स्व' को नष्ट कर देता है, सर्वथा विसर्जित कर देता है, तो पूर्ण कलाचन्द्र का उदय होता है। दिवास्वप्न में स्वरत्यात्मक अनुभूति की चरितार्थता प्रधान रहती है, उसमें व्यक्ति का प्यार अपने और अपने शरीर के ऊपर केन्द्रित रहता है। इस स्वरूपासक्ति या स्वरति का परित्याग कला की पहली शर्त है। बीज अपने स्वरूप को नष्ट कर देने पर ही अंकुर का गौरव प्राप्त करता है। जब तक बीज स्वरति में आसक्त रहेगा, अपने स्वरूप से चिपका रहेगा, अपना नाश नहीं करेगा, आत्मसमर्पण नहीं करेगा तब तक सृजन में समर्थ नहीं हो सकता!

पर प्रश्न यह होता है कि कलाकार जो इतना बड़ा स्वार्थ त्याग करता है, उसके बदले से उसे मिलता क्या है? क्या इस त्याग का कोई प्रतिदान नहीं मिलता? विश्व के मूल में काम करने वाला यह सिद्धान्त कि

किसी वस्तु का सर्वथा नाश नहीं होता, यहां लागू नहीं होता ? जिस तरह—

वासांसि जीर्णानि यथाविहाय, नवानि गृह्णाति नरोपराणि,
तथा शरीरानि विहाय जीणान्यन्यानि संजाति नवानि देही।

उसी तरह यहां कवि को पुराने वस्त्रों को छोड़ने पर कौन सा नया चोला मिलता है ? कबीर ने कहा—

रितु बसंत जाचक भया, डाल दियो द्रुम पात।
ताते नव पल्लव भया, दिया दूर नहीं जात॥

कबीर का कहना है कि बसंत ऋतु वृक्षों के पास याचक के रूप में उपस्थित हुआ। वृक्षों ने उदारतापूर्वक अपने सब पत्ते दे दिये। पतझड़ का दृश्य उपस्थित हो गया। पर इसका परिणाम यह हुआ कि नये-नये पल्लवों से वृक्ष लद गये। चारों ओर बसंत की हरियाली छा गई क्योंकि सात्विक दान कभी भी व्यर्थ नहीं जाता। उसी तरह कला कलाकार के पास भिखारिणी के रूप में उपस्थित हुई। हे कवि मुझे रूप दो, मैं निरूप हूं, जड़ हो गई हूं, मुझे आकार दो, चैतन्य दो ! कवि ने उसे अपना स्वरूप प्रदान कर दिया। इसका परिणाम क्या हुआ ?

परिणाम यही हुआ कि कृति में, रचना में रूप और सौन्दर्य का अवतार हुआ। पहले जो मिट्टी का ढ़ेला मात्र था, पत्थर का टुकड़ा मात्र था, शब्दों का निर्जीव उच्चार मात्र था, वह सोना बनकर चमक उठा। असंख्य मानवता के हृदयों को स्पन्दित करने लगा, लोगों को आकर्षित करने लगा, गले और कण्ठ का हार बनने लगा, अपूर्व सौन्दर्य से समन्वित हो उठा।

इस सौन्दर्याविष्करण की समस्या इस तरह कलाकार को अभिभूत कर ले सकती है कि वह दूसरों को थोड़ा फुसला देने वाली सुन्दरता से ही संतुष्ट नहीं रह सकता। वह इस सौन्दर्य के चरम रूप का दर्शन करना चाहता है, इसे Perfection पर पहुंचाना चाहता है। सम्भव है कि कृति की सुन्दरता दर्शकों को संतोषप्रद हो, उन्हें आत्मतुष्टि प्रदान करे, पर कलाकार को उससे संतोष न हो। अतः वह इस सौन्दर्य की खोज में और भी उत्साह के साथ प्रवृत्त हो और यह खोज उसके जीवन भर की खोज हो जाय। दिवास्वप्न के देखने वाले ने अपने स्वरति (Narcissism) का बलिदान तो कर दिया पर वही स्वरति अपना स्वरूप बदलकर कवि के सौन्दर्यान्वेषण तथा रूपविधायकत्व के रूप में सामने आ गई। अर्थात् कृति, रचना कवि के व्यक्तित्व का प्रतीक हो गई, कवि का स्वयं-रूप ही बन गई, कवि और उसमें कोई अन्तर ही नहीं रह गया।

अर्थात् जो पहले दिवास्वप्न मात्र था, वह अब सच्चा और सार्थक बन गया, जो पहले साधन मात्र था वह अब साध्य सा बन गया। स्वरति तो दोनों में है पर जो स्वरति पहले रचयिता में केन्द्रित थी वह रचना में केन्द्रीभूत हो गई। स्वरति का यह परिवर्तित रूप, यह अवस्था भी धारण कर ले सकता है कि रचना जीवन के बहुमूल्य से बहुमूल्य पदार्थ से भी अधिक मूल्यवान लगने लगे। कलाकार प्रेम का बलिदान कर सकता है, मैत्री का बलिदान कर सकता है पर अपनी रचना का परित्याग नहीं कर सकता। कलाकार के जीवन में बहुत सी ऐसी कथाएं सुनने को मिलती हैं जिनमें उन्होंने बड़े से बड़े प्रलोभनों को ठुकरा दिया है पर अपनी कलाकृति को अपने से दूर करना पसन्द नहीं किया है। यह अवस्था यहां तक बढ़ जा सकती है कि बाहरी सौन्दर्य का आविष्करण, वस्तु की बाहरी रूपरेखा को

सुन्दरातिसुन्दर रूप में रखने की प्रवृत्ति ही प्रमुखता धारण कर ले और कला के क्षेत्र में टेकनीक का साम्राज्य हो जाय। मतलब यह कि कवि ने अपना विलीनीकरण अवश्य कर दिया है पर इस रूप में वह अमर हो गया है।

शैक्सपियर, होमर, कालिदास, तुलसी और सूर की वैयक्तिक जीवनी भले ही हमें मालूम न हो, पर हमें यह उतना नहीं खलता। क्या हर्ज है, यदि व्यक्ति का पता नहीं? कवि तो अजर अमर है! उसके संघर्ष, राग-विराग, आशाएं, आकांक्षाएं तो हमारे सामने हैं ही, उसके व्यक्तित्व के सारतत्व के सम्पर्क में हम आते ही हैं। यहां यह और याद रखने की आवश्यकता है कि व्यक्तित्व का जो रूप साहित्यिक कृति में निहित है, वह दैनिक जीवन के चलते-फिरते रूप से समानधर्मी ही हो, यह कोई आवश्यक नहीं। बाहर का कायर, नीतिभ्रष्ट, राक्षस, अत्याचारी अपने साहित्य में भी वैसा ही बना रहे यह आवश्यक नहीं। वह वीरता, नैतिक मूल्यों, साधुता और करुणा की प्रशस्ति भी गा सकता है। Die Rauber के लेखक Schiller की वीरोचित, हृदय में आग लगाने वाली, क्रान्ति का मंत्र फूंकने वाली उक्तियों को पढ़कर पाठकों के हृदय में उसकी जो काल्पनिक मूर्ति सामने आई वह वीरत्व की विग्रहवती मूर्ति थी पर जब उन्होंने शिलर की शर्मीली तथा दूसरों की आंखों को बचाकर चलने वाली मूर्ति को देखा तो उन्हें कितनी निराशा हुई।

कौन यह विश्वास करेगा कि जीवन भर रोमांस की प्रशस्ति गाने वाला कवि Byron एक मिनिट भी किसी युवती के सामने नहीं ठहर सकता था। इस सम्बन्ध में T. S. Eliot की वह प्रसिद्ध उक्ति

सहज ही याद आती है "The poet has not a personality, to express, but a particular medium, which is only a medium, and not a personality, in which impressions and experience centre in a peculiar and unexpected ways. Impressions and experience which are important for the man take no place in the poetry and those which become un-important in the poetry may play quite a negligible part in the man, the personality. अर्थात् कवि के पास अभिव्यक्त करने के लिए कोई व्यक्तित्व नहीं होता, परन्तु एक माध्यम होता है। वह व्यक्तित्व नहीं, माध्यम मात्र है। जो धारणायें या अनुभूतियां महत्त्व-पूर्ण हैं उन्हें कविता में कोई स्थान नहीं भी मिल सकता और जिन्हें कविता में महत्त्व मिले वे व्यक्ति के व्यक्तित्व के लिये नगण्य हो सकती हैं।

इसमें मतभेद नहीं हो सकता कि स्वप्न, दिवास्वप्न, कला अर्थात् हम जो कुछ भी करते हैं वे सारे व्यवहार आत्माभिव्यक्ति के सिवा कुछ नहीं हैं। परन्तु आत्माभिव्यक्ति शब्द का प्रयोग प्रायः संकुचित अर्थ में किया जाता है। आत्माभिव्यक्ति से क्या अभिप्राय है ? किसी परिस्थिति का सामना करने के लिए व्यक्ति के अन्दर reflex action के रूप में स्वतःपरि-चालित क्रिया होती है वह ? चोट लगने पर निकलती हुई आह ? विजय-सन्देश पाने पर झट से निकली हुई हर्षध्वनि ? एक दूसरे को देखकर युद्धोद्धत कुत्ते की गुर्राहट ? क्षुधा-तृप्त व्यक्ति की डकार ? खिलौने पाने वाले बच्चे की किलकारी ? हम इन्हें आत्माभिव्यक्ति कह सकते हैं पर यह पूर्ण आत्माभिव्यक्ति न होकर उसका एक अंश मात्र ही है। आत्माभिव्यक्ति

अपने को सरूपवती या विग्रहवती देखकर ही संतुष्ट नहीं होती। वह एक पग आगे बढ़कर दूसरों पर पड़े अपने प्रभाव को भी देखना चाहती है। हम आह करके ही नहीं रह जाना चाहते। हम चाहते हैं कि हमारी आहों में तासीर हो, हमारे नाले दिलगीर हों, वे दूसरों पर प्रभाव डालें। यदि ऐसा नहीं होता तो हम सोचते हैं कि हमारी आत्माभिव्यक्ति अधूरी है, कहीं न कहीं चूक है। यदि मेरी मुस्कान ने दूसरों को प्रफुल्लित नहीं कर दिया, यदि मेरी किल-कारी ने दूसरों के हृदय को भी पुलकित नहीं कर दिया, तो उसका महत्त्व ही क्या है ?

एक व्यक्तिगत उदाहरण से काम लूं। मैं बधिर व्यक्ति हूं। मुझ से लोग लिख-लिख कर ही बातें कर सकते हैं। एक बार मैं एक नये मित्र से मिल कर आया तो उन्होंने मुझे पत्र में लिखा 'उपाध्यायजी, आप तो अपने को अभिव्यक्त कर लेते हैं पर दूसरा नहीं कर पाता, वही घाटे में रहता है, आप नहीं।' मैं अभिव्यक्ति में सफल इस लिए रहा कि मेरी अभिव्यक्ति शीघ्र दूसरों पर चोट कर सकती है, उन्हें प्रतिक्रिया-तत्पर कर सकती है। पर दूसरों की अभिव्यक्ति इसी अर्थ में अभागिन है कि वह मुझे प्रतिक्रिया–तत्पर शीघ्र नहीं कर सकती, उसमें विलम्ब होता है। अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अभिव्यक्ति की सीमा, मात्र अभि-व्यक्ति तक ही नहीं, वह प्रभाव तक भी बढ़ती है। कवि का काम आत्मा-भिव्यक्ति करके नहीं रह जाना है परन्तु दूसरों के अन्दर भावों को जागृत करना भी है। "जग जांय तेरी नोक से सोये हुए जो भाव हैं।" बल्कि दूसरों पर प्रभाव डालने वाली बात अधिक महत्त्वपूर्ण है।

यदि आत्माभिव्यक्ति को मात्र अभिव्यक्ति तक ही सीमित रखें तो पागल

की अभिव्यक्ति में और कवि की अभिव्यक्ति में क्या अन्तर रह जाता है। पागल कहता है कि मैं भगवान का अवतार हूं, नेपोलियन हूं। यह भी तो उसकी आत्माभिव्यक्ति ही है। पर भगवान का सच्चा अवतार भक्तों को मोक्ष प्रदान करता है, साधुओं का परित्राण करता है, दुष्कृतों का विनाश करता है, धर्म का संस्थापन करता है। नेपोलियन एक बहुत बड़ी सेना का नेतृत्व करता है और अनेक देशों पर विजय प्राप्त करता है।

कुछ पागलों की कलाकृतियों का भी अध्ययन किया गया है। कुछ ऐसे भी पागल होते हैं जो चित्र बनाते देखे गये हैं और इस तरह अपनी अचेतन शक्तियों की अभिव्यक्ति करते हैं। उन्माद की प्राथमिक अवस्था में तो उनके चित्रों की सार्थकता का पता लग जाता हैं अर्थात् वे दूसरों को प्रभावित कर सकते हैं पर बाद में ज्यों-ज्यों उनके मनोविकार में वृद्धि होती जाती हैं त्यों-त्यों उनके चित्रों में स्पष्टता का अभाव आता जाता है और अन्त में उनमें अर्थ खोज निकालना असम्भव हो जाता है अर्थात् उनमें दूसरों के हृदय में भावों को जागृत करने की शक्ति एकदम नहीं रह जाती। अतः इसी रूपक के सहारे आकार के स्वरूप को, उसकी आत्माभिव्यक्ति के स्वरूप को समझने में हमें सहायता मिल सकती है।

कला या कलाकार का शुद्ध स्वरूप क्या है ? कौनसी चीज उसे दूसरों से पृथक करती है ? हम कह सकते हैं भावों की अभिव्यक्ति ही उसकी विशेषता नहीं। यह कार्य तो अन्य लोग भी करते हैं और कर सकते हैं। उसकी विशेषता प्रभावोत्पादकता है, दूसरों में स्वजातीय भावों की जागृति। यदि हम व्यक्ति के रूप में, कहते हैं कि हम नेपोलियन हैं तो कलाकार के रूप में आगे बढ़कर सेना का नेतृत्व करते हैं, देश-प्रदेशों पर साम्राज्य की स्थापना करते हैं।

यही काम दिवास्वप्नों से नहीं हो सकता। वे अपने शुद्ध स्वरूप में नेतृत्व नहीं कर सकते। दूसरों के अन्दर वांछनीय अनुभूति नहीं जगा सकते। वे अपनी इच्छा-पूर्ति कर लें पर दूसरों का नेतृत्व नहीं कर सकते। इसी स्थान पर कविता, कला दिवास्वप्न से सर्वथा पृथक हो जाती है। इन दोनों की रचना में स्रष्टा को जो पार्ट अदा करना पड़ता है वह सर्वथा भिन्न है। स्वप्न-द्रष्टा अपना hero स्वयं आप होता है, कवि कभी नहीं। कवि लोक-हृदय को पहचानता है, लोकहृदयसंवादभाजी होता है, उसकी दृष्टि अपने पर नहीं दूसरों पर होती है। दिवास्वप्न-द्रष्टा स्व-हृदय को ही जानता है, लोक-हृदय-संवाद-भाजन-योग्यता उसमें नहीं आती। कवि जब कभी आत्मकथा भी कहता सा दीख पड़ता है, ऐसा लगता है कि अपने ही जीवन की घटनाओं तथा विचारों को अभिव्यक्त करता है उस समय भी उसके कार्य करने का ढंग दिवा-स्वप्न-द्रष्टा से सर्वथा पृथक होता है।

कवि जिस किसी घटना का उल्लेख करता है उसमें एक जिज्ञासा होती है, वह उन घटनाओं के द्वारा मानों आगे बढ़कर किसी चीज को खोजना चाहता है, लोगों को उसे दिखलाना चाहता है, जिस सत्य का उसने साक्षात्कार किया है उसका सहभागी होने के लिए दूसरों को आमंत्रित करना है। दिवास्वप्न अपने से आगे नहीं बढ़ता। वह अपने स्व का चारण होता है, Self-glorification में ही निमग्न रहता है, अपनी ही बात ओटे जाता है पर कवि का काम Self glorification नहीं है, वह अपने सत्स्वरूप को पहचानना चाहता है—वह सत्स्वरूप जिसमें विश्वरूप की झलक रहती है। स्वरति तो सब में होती है। स्वप्न-द्रष्टा में भी और कवि में भी। दर्पण में सब अपने रूप को देखकर अपने

Narcissism को संतुष्ट करते हैं। पर कुछ लोग होते हैं जो दिन–रात दर्पण के सामने बैठकर अपने शरीर के सौंदर्य को निहारने में ही मग्न रहते हैं और कोई काम करने की फुरसत ही उन्हें नहीं मिलती। दूसरे होते हैं जो जरासा मुंह देखकर, बालों पर कंघी फेर कर झटपट बाहर काम करने के लिए निकल पड़ते हैं। पहला स्वप्न-द्रष्टा है, दूसरा कवि।

एक का चित्र स्थिर है, दूसरे का गति-शील। एक निस्पन्द है, दूसरा गतिशील मानो शांत जलाशय में कंकड़ी पड़ी, निरन्तर प्रगतिशील लहरों की शृंखला बँध गई। पुरानी बातें ही नूतन अर्थों से समन्वित हो उठीं, हम में नई अनुभूतियां जगने लगीं और हमारे जीवन में समृद्धि आई।

साहित्य
और ऐतिहासिक
उपन्यास

साहित्यिकों में यह प्रवाद प्रचलित है कि Fielding प्रथम उपन्यासकार हैं और स्काट प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार। उसी तरह हिन्दी में लाला श्री निवासदास को प्रथम उपन्यासकार का गौरव प्राप्त है और श्री किशोरीलालजी गोस्वामी को प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार का। परन्तु अंग्रेजी साहित्य के अनुसंधानकर्त्ताओं ने उपन्यास की वंशावली की खोज करते-करते इसके लिए इतने पिता खोज निकाले हैं जितने कि संस्कृत साहित्य के अन्वेषकों ने कालिदास के निवास-स्थानों का या जन्म-स्थानों का भी पता नहीं पाया होगा। अतः, हम इस उलझन में नहीं पड़ेंगे कि ऐतिहासिक उपन्यास का जन्मदाता कौन है? हमारा काम इतने से ही चल जायेगा कि किसके घर इसका पालन-पोषण हुआ और जब से यह हमारे सामने अपना जाला पसारने लगा तब से इसका क्या रंग-ढंग रहा और अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हुए इसका स्वरूप किस रूप में प्रगट होना चाहिए।

ऐतिहासिक उपन्यास में दो शब्द हैं इतिहास और उपन्यास। इतिहास का अर्थ है वास्तविक सत्य अर्थात् वे घटनाएं जो घट चुकी हैं और जिनके विषय में किसी तरह के मतभेद का अवसर नहीं। उपन्यास का अर्थ है कल्पना अर्थात् यहां कल्पना उड़ान भरती तो है (कल्पना का काम ही है उड़ान भरना है) पर उस पर ऐतिहासिक घटनाओं का खिचाव लगा ही रहता है। वह इनसे सम्बन्ध तोड़ नहीं सकती, गुडी कितनी ही दूर आसमान में चली जाय पर उडायक का नियन्त्रण सदा अपना प्रभाव बनाये रहता है। यहां हम रोमांस, उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास पर नियन्त्रण की दृष्टि से विचार करें तो बातें कुछ स्पष्ट होकर सामने आयेंगी । रोमांस का वास्तविक स्वरूप क्या है ? क्या नीलम देश की राजकन्या अथवा Holy Grail की खोज में निकल पड़ने वाले वीरों के अति साहसिक कारनामें ? सागर को बांधने वाले तथा हिमगिरि को हिला देने वाले अति-मानवीय कृत्यों, तलवार, समरांगण तथा रक्तपात की शब्दावली में वर्णित घटनाओं को रोमांस का नाम देना पर्याप्त होगा ? नहीं, बाहरी दृष्टि से दुर्दान्त, भयानक, प्रेरक घटनाएं अथवा विघ्नबाधाएं मनुष्य को अनेक अकाण्ड तांडवों में प्रवृत्त कर सकती है पर साधारण सी, देखने में निरीह सी लगने वाली छोटी सी घटना भी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकती है जो जीवन की सबसे भयंकर घटना लगे और उसका सामना करने के लिए हमें सर्वस्व तक का बलिदान करना पड़े । सम्भव है कि नेपोलियन की सेना रूस को ध्वस्त कर दे पर टालस्टाय के कानों पर जूं तक न रेंगे, भारत का विभाजन हो जाय और तज्जन्य प्रभाव के कारण भारत वसुन्धरा में रक्त की नदियां बह चलें, पर जैनेन्द्र उसकी ओर आंख भी उठाकर न देखें। पर यह भी सम्भव है कि नित्यप्रति होने वाली

क्रौंचवध जैसी घटना एक व्यक्ति के हृदय को कचोट दे। भले ही वह तलवार न उठाकर लेखनी उठाये और वह विरोधियों की हत्या करने के लिए समरांगण की सृष्टि न कर अपने हृदय-मंथन के बल पर एक महाकाव्य की सृष्टि कर दे। अतः बाहरी विघ्नवाधाओं तथा आपत्तियों की बाट पर रोमांस तोला नहीं जा सकता है। Flaubert के प्रसिद्ध उपन्यास Madame Bovary का नाम किसने नहीं सुना होगा? मैडम बोवारी से बढ़कर रोमांटिक मिजाज का व्यक्ति कौन हो सकता है? पर फिर भी उसके साहसिक कार्यों को हम रोमांस नहीं कह सकते। तब रोमांस की पहिचान क्या है?

रोमांस की पहिचान अनुभूति का स्वरूप है। अनुभूति और क्रिया का पारस्परिक सम्बन्ध है। क्रिया का स्वरूप अनुभूति के स्वरूप पर आश्रित रहता है। चिन्गारी की स्पर्शानुभूति हुई नहीं कि हाथ हट गया। स्पर्शानुभूति और हाथ का हट जाना ये दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। जिस तरह आत्मा शरीर से आबद्ध होकर विभु और व्यापक होते हुए भी शांत और सीमित रूप में आचरण करने के लिए बाध्य है उसी तरह अनुभूतियों की भी सीमाएं हैं जिनके नियन्त्रण में ही उन्हें अपना स्वरूप निर्माण करना पड़ता है। पर ये अनुभूतियां जब अपनी सीमा और शर्तों के नियन्त्रण से मुक्त होकर स्वच्छन्द बिहार करने लगती हैं तब रोमांस का अस्तित्व सामने आता है। एक पतंग की या वैलून की कल्पना कीजिए। पतंग आसमान में बहुत दूर खिल गई है। वैलून सुदूर व्योम मण्डल में मँडरा रहा है। परन्तु एक पतली सी डोर—भले ही वह बहुत लम्बी हो—इस पृथ्वी की खूंटी से बंधी हो और जब हमारी अनुभूति कल्पना के वैलून में बैठी उड़ान भर रही हो उस समय इसी डोर से पता

चलता है कि हम किस स्थान पर हैं। पर यदि इस डोर को काट दिया जाय और इस सफाई से कि इसका पता भी न चले तो हम रोमांस के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं।

अतः, हम कह सकते हैं कि अशरीरी, अनियन्त्रित, उन्मुक्त, निर्बाध अनुभूति रोमांस का निर्माण करती है। हां, इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि डोर एक झटके से न काटी जाय कि उसका धक्का वैलून में बैठी अनुभूति को लगता सा मालूम पड़े। काट ऐसी सफाई से हो कि कहीं से उसका आभास न मिल सके। कुम्भकार चाक चल ना बन्द भी कर देता है तो भी मोमेंटम शक्ति के सहारे उसमें गति कुछ देर तक बनी रहती है। प्रेरणा-प्रदान की समाप्ति और गति की समाप्ति के बीच की अवस्था को हम एक तरह से रोमांस की अवस्था कह सकते हैं। हालांकि यह तुलना पूर्णरूप से सही नहीं उतरती। हां, तरीके हैं जिनके द्वारा पृथ्वी से लगी डोर काटी जा सकती है और उनका सफल प्रयोग करना लेखक के कौशल पर निर्भर करता है।

उपन्यास का क्षेत्र यथार्थवाद (realism) का क्षेत्र है। इसमें अनुभूति के वैलून को उड़ान भरने की मनाही तो नहीं है। वह दूर से दूर तक उड़ान भर सकता है–मैडम बोवारी से अधिक कौन उड़ान ले सकता है–पर डोर पृथ्वी पर ही रहती है और अपना हल्का प्रभाव दिखलाती ही रहती है और ज़ोला, बलज़ाक के साहित्य की जन्मदात्री होती है। कह लीजिए गोर्की और प्रेमचन्द की। पर ऐतिहासिक उपन्यास में यह नियन्त्रण दुहरा हो जाता है। मेरी कल्पना के अनुसार यथार्थ वह है जिसको पृथ्वी से सम्बद्ध करने वाली डोर को हम पा ले सकते हैं। भले

ही वह हमारी शक्तियों की तात्कालिक सीमा के कारण आज नजरों से ओझल हो। पर जिस समय हमारे प्रयत्नों पर से सीमा का बन्धन हटेगा उस समय वह डोर हमें दीख पड़ जायेगी ठीक उसी तरह जिस तरह पापों के क्षय होने पर हमारी प्रिय वस्तु सामने आ जाती है अथवा जिस तरह पानी की छींटे पड़ने पर पृथ्वी से सोंधी गन्ध आने लगती है। यथार्थवाद में पृथ्वी की सतह से अनुभूति के विमान की डोर को आज या कल देख लेना असम्भव नहीं है। रोमांस में इस सम्बन्ध-सूत्र को देखा नहीं जा सकता। पर ऐतिहासिक उपन्यास में यह सम्बन्ध-सूत्र हमारे सामने सदा दीखता रहता है और ऐतिहासिक उपन्यासकार इस यथार्थता के दुहरे नियन्त्रण से अपने को दूर नहीं कर सकता।

एक स्थान पर मैंने कहा था कि कथा और जीवन में चार तरह के सम्बन्ध हो सकते हैं—असम्भव, दुर्लभ, सम्भव और सुलभ। चूंकि हम सम्बन्ध-सूत्र के रूपक में तथ्य को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं अत: कहना यह चाहिये कि ये चारों सूत्र हैं जिनके द्वारा कथा-जीवन तथा प्रकृत-जीवन में सम्बन्ध बना रहता है। प्रथम दो सूत्र एक जाति के हैं, द्वितीय दो सूत्र दूसरी जाति के। यदि दोनों में भेद है तो थोड़ा ही। प्रथम दो सूत्रों के आधार पर दंतकथाओं और रोमांस की सृष्टि होती हैं, द्वितीय दो सूत्रों के आधार पर उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास की। अतः विकास क्रम की दृष्टि से अथवा इसी को कहें नियन्त्रण-क्रम की दृष्टि से तो प्रगति का सूत्र यों होगा—दंतकथायें, रोमांस, उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास। प्रथम में सम्बन्ध-सूत्र का अत्यन्ताभाव तो नहीं कह सकते पर अभाव जरूर है, दूसरे में सम्बन्ध है तो सही, पर दूर का,

तृतीय में सम्बन्ध-सूत्र समीप आ जाता है, चतुर्थ में सम्बन्ध के गाढ़त्व की वृद्धि हो जाती है ।

इस प्रश्न पर हम स्पष्टता के लिए मनोविज्ञान की दृष्टि से भी विचार कर सकते हैं । फ्रायड की मान्यताओं के अनुसार व्यक्ति का जीवन तीन प्रमुख शक्तियों के द्वारा परिचालित होता है Id, Ego और Super-ego व्यक्तितत्व का वह आदिम, स्वच्छन्द, खुलकर खेलने वाली प्रवृत्ति जिसे सभ्यता ने दमित कर दिया है पर जो बार-बार अपनी तृप्ति के लिए बाहर आना चाहती है उसे Id कहते हैं। Ego वह अंश है जो हमारी आदिम दमित प्रवृत्तियों के महत्त्व को, उनकी आनन्द-प्रदायकता को महसूस करता तो है पर उनके जाल से बचने के लिए सचेत भी करता रहता है । दिल में 'यादे-बुतां भी है, खौफे-खुदा-भी-है' वाली परिस्थिति बनी रहती है । परन्तु Super-ego में यह स्थिति एकदम बदल जाती है । यहां सभ्यता की गर्दिश प्रवृत्तियों को पीस देती है और कहती है कि इसके मोहक रूप पर मत जावो, यह धोखे की टट्टी है तुम्हें पतन और महानाश के आवर्त में ढकेलने वाली है। अतः, नियन्त्रण की दृष्टि से देखें तो स्पष्ट होगा कि Id स्वच्छन्द हैं, वहां किसी तरह का नियन्त्रण नहीं है, Ego में नियन्त्रण की कसावट आ जाती है पर वहां इधर-उधर घूम-वाम लेने की थोड़ी छूट भी है, Super-ego में आकर नियन्त्रण का पेच इतना कस जाता है कि व्यक्ति जरा भी हिलडुल नहीं सकता। ऐतिहासिक उपन्यास की स्पष्ट कल्पना मन पर लाने के लिए ऊपर जो नियन्त्रण का रूपक बांधा गया है उसे यहां मिला देखा जाय तो पता चलेगा कि दंतकथाओं और रोमांस में तो Id की आदिम और उन्मुक्त प्रवृत्तियों का प्राधान्य रहता है, उपन्यास में

Ego के प्रति दृढ़ नियन्त्रण का प्रतिनिधित्व रहता है पर ऐतिहासिक उपन्यासों में आकर Super–ego के सर्वग्रासी नियन्त्रण की प्रधानता हो जाती है। पर यह भी सत्य है कि सर्वग्रासी नियन्त्रण के अस्तित्व का सदा बना रहना सम्भव नहीं रहता, बांध में जहां तहां दरारें डालकर Id का प्रवाह प्रवेश कर ही जाता है और मनोविकृति या न्यूरोसिस का जन्म होता है। उसी तरह ऐतिहासिक उपन्यास की दुहरी तिहरी रक्षा–पंक्तियों में दरारें डालकर कल्पना के शीतल समीर के एक आध झोंके प्रवेश कर ही जाते हैं और ऐसा वातावरण उत्पन्न करते है कि वहां इतिहास महज इतिहास न रहकर ऐतिहासिक उपन्यास बन जाता है।

इतिहास और उपन्यास

(अंग्रेजी में दो शब्द हैं Story और Hi-story. Augustine Birrell ने एक स्थान पर कहा है कि Story और Hi-story इन दोनों शब्दों की उत्पत्ति एक ही ग्रीक शब्द से हुई है जिसका अर्थ है जांच पड़ताल कर प्राप्त की गई कोई सूचना। अतः, पृथ्वी पर रहने वाले मानव की कथा ही इतिहास की स्वाभाविक और सच्ची परिभाषा हो सकती है और इस कथा को किसी परिच्छेद या अंश की कथा कहने वाला ही ऐतिहासिक है) परिणाम यह निकला कि ऐतिहासिक की वफादारी हर तरह से वर्णित युग या मनुष्य के जीवन में घटित घटनाओं की यथातथ्यता के प्रति है और वह उनकी सीमा को छोड़कर जरा भी इधर उधर नहीं हो सकता। अर्थात् वास्तविक घटनाओं में उसे अपनी गांठ से कुछ भी मिलाने की अनुमति नहीं है। अनुमति नहीं, यह तो ठीक है,

पर प्रश्न यह होता है कि मनुष्य के लिए अपनी ओर से कुछ न मिलाने वाली प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त होना सम्भव भी है ? क्या पुष्प से यह आशा करना कि वह सुगंध देना छोड़ दे या अग्नि उत्ताप न दे, ठीक है ? मनोवैज्ञानिकों ने तो प्रयोगशाला की वैज्ञानिक परिस्थितियों में परीक्षण करके देखा है कि किसी एक घटना–आंख से देखी हुई घटना की रिपोर्ट में भी समानता नहीं होती। एक व्यक्ति एक रिपोर्ट देता है तो दूसरा दूसरी। यह हाल अभी की देखी हुई तात्कालिक घटनाओं की सूचना के बारे में है तो समूह की प्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखने वाले एक अतीत युग की बात ही क्या ?

इतिहास को लेकर जो विचारों की अराजकता है उसका उदाहरण मैं भारतीय इतिहास से न दूंगा। भारतीय तो अपनी ऐतिहासिक बुद्धि (Historic sense) के अभाव को लेकर बदनाम हैं ही। पर पश्चिम तो अपनी इतिहास-प्रियता के लिए प्रसिद्ध है ! उसने तो अपने इतिहास को सुरक्षित तथा सुसम्बद्ध रूप में उपस्थित करने में सतर्कता और तत्परता से काम लिया है !! पर उसे इसमें सफलता मिली ? हम दृढ़ स्वीकारात्मक उत्तर नहीं दे सकते। अपने मंतव्य की पुष्टि के लिए हम The Art and Practice of Historical Fiction by ALFRED TRESIDDER SHEPPARD के आधार पर कुछ मनोरंजक उदाहरण दे रहे हैं—मेकाले, कारलाइल, गिब्बन, गार्डनर ये प्रमुख इतिहास–लेखक माने जाते हैं। पर ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करते समय इनकी कल्पना कुछ इस तरह सक्रिय हो गई है कि उनका स्वरूप ही बदल गया है। तिस पर भी उनके द्वारा वर्णित घटनाओं में अज्ञानवश तथा अधूरी जानकारी के कारण भूलें भी हुई हैं, उनकी बात ही दूसरी है।

रावर्ट वालपोल, अब्राहम लिंकन, लार्ड चेस्टरफील्ड, कार्लाइल जैसे व्यक्तियों ने भी इतिहास को सशंक दृष्टि से देखा है। कारलाइल ने तो एक स्थान पर इतिहास को किम्वदन्तियों का अर्क (distillation of Rumours) तक कह डाला है। आश्चर्य तो तब होता है जब हम देखते हैं कि असंदिग्ध, अकाट्य और अभेद्य समझी जाने वाली ऐतिहासिक घटनाओं तथा व्यक्तियों की प्रामाणिकता में भी अनास्था का अवसर मिल ही जाता है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

नेपोलियन का नाम किस इतिहास के विद्यार्थी ने नहीं सुना होगा और उसकी दुर्वारवीर्यता, साहस और अपूर्व आत्मविश्वास पर किसने शंका की होगी ? पर Archbishop Whately's ने १८१६ में Historic Doubts नामक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसमें उसने सबल प्रमाणों के आधार पर नेपोलियन सम्बन्धी अनेक प्रचलित धारणाओं पर सीधा कुठाराघात किया था। नेपोलियन सम्बन्धी अनेक इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं को उसने अवास्तविक तथा जन-कल्पना की उपज बतलाया। नेपोलियन का मास्को पर आक्रमण, एल्बा प्रायःद्वीप में उसका बंदी किया जाना, ट्राफालगर का युद्ध, विभिन्न शक्तियों का पेरिस में प्रवेश करना, इन सब इतिहास सम्मत घटनाओं को उसने अप्रामाणिक बतलाया है। उसका कथन है कि अंग्रेजों ने अपनी महत्ता, अपनी शक्ति और वीरता का दांभिक प्रदर्शन करने के लिए नेपोलियन के व्यक्तित्व में दन्त-कथाओं में पाये जाने वाले शौर्य तथा प्रताप का झूठमूठ समावेश इसलिए कर दिया है कि उसके जैसे Legendary Hero के पछाड़ने से उनकी तेजस्विता और निष्ठा का स्वरूप लोगों के सामने और भी चमत्कृत रूप में प्रकट होगा। ग्रीक भाषा में नेपोलियन का अर्थ ही 'वन-सिंह' है और वन के सिंह को पछाड़ने

वाले से बढ़कर वीरता क्या हो सकती है ? श्री हर्ष ने दमयन्ती के सौंदर्य का वर्णन करते समय कहा है कि—

इतः स्तुति का खलु चंद्रिकायाः यदुब्ध्यमप्युत्तरली करोति ।

अर्थात् चन्द्रिका की प्रशंसा इससे अधिक और क्या हो सकती है कि उसके स्पर्श से शान्त सागर में भी तरंगें उठने लगती हैं । उसी तरह अंग्रेजों की कल्पना ने भी एक साधारण से व्यक्ति को 'वन सिंह' के रूप में परिणत कर दिया और उसे परास्त कर एक ऐसे वातावरण की सृष्टि की जिसमें उनके स्वाभिमान को संतोष प्राप्त हो सके । कालिदास को बालक भरत के सौभाग्य तथा वीरता की सूचना देनी थी, अतः उन्होंने भरत द्वारा परास्त सिंह को ला बैठाया ।

भारतीय महाकाव्यों में दो पात्र होते है नायक और प्रति-नायक । नायक को सर्व-गुण-सम्पन्न चित्रित करने की प्रथा है और प्रतिनायक को सर्व-गुण-हीन । वह कायर, डरपोक और खल होता है और नायक से पराजित होता है । पर कुछ विचारकों का यह भी कहना है कि प्रतिनायक को शूरता तथा वीरता इत्यादि गुणों में नायक के समकक्ष ही होना चाहिये, घट कर हो भी तो किंचिन्न्यून हो, कारण कि वीर को ही पराजित करने में नायक के चरित्र का जौहर खुल सकेगा । पर ये सब बातें तो साहित्यिक कल्पना की है । अंग्रेज इतिहास लेखकों ने नेपोलियन को सिंह के रूप मे चित्रित किया है, उसमें उन्होंने कल्पना से काम नहीं लिया है क्या ? एक दूर द्वीप से इतने प्रहरियों की आंखों में धूल झोंक कर भाग जाना और फ्रांस की भूमि पर पैर रखते ही बात की बात में एक दुर्दान्त सेना का संगठन कर लेना, हम इतिहासकारों की गवाही पर सच्ची बात मान लें, पर सुनने में तो कथाओं जैसी ही लगती है ।

इसी तरह अलफ्रेड, जॉन आफ आर्क, हैम्पडन, इत्यादि व्यक्तियों के बारे में, उनके चरित्र तथा व्यक्तित्व-चित्रण के बारे में तरह तरह की आशंकायें की जाती हैं। इंगलिस्तान के राजा जॉन के द्वारा घोषित तथा हस्ताक्षरित अंग्रेजों की स्वतन्त्रता का स्तंभ मैगनाकार्टा (Magna Charta) नामक ऐतिहासिक दस्तावेज़ (document) को कितनी प्रसिद्ध घटना समझी जाती रही है। पर उसके बारे में भी लोगों में तरह तरह की शंकायें हैं। यह कहा जाता है कि जॉन ने किसी ऐसे दस्तावेज़ पर दस्तखत नहीं किये थे। जब क्रॉमवेल, नेपोलियन तथा विक्टोरिया जैसे हाल के व्यक्तियों के इतिहास के बारे में इतनी भ्रांतिया फैली हैं तो सुदूर अतीत के बारें में क्या कहा जा सकता है? इसी को देख कर कुछ लोगों का कहना है कि भारतीयों में जिसे हम ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव कह कर उनका उपहास करते हैं वह उनकी बुद्धिमत्ता, सूक्ष्म-दर्शिता का ही द्योतक है जिसने इतिहास की व्यर्थता को सहज ही में समझ लिया था। समझ लिया था कि इतिहास को कल्पना से पृथक नहीं रखा जा सकता।

भारत के स्वातंत्र्योत्तर काल में १८५७ की क्रान्ति के प्रति और उसे गौरवान्वित करने के प्रति लोगों में प्रवृत्ति का जागना स्वाभाविक है। पर आज डॉ० मजूमदार जैसे इतिहासज्ञ वर्तमान हैं जो इस घटना को भारत के प्रथम स्वातन्त्र्य-युद्ध का गौरव देने के लिये तैयार नहीं हैं और कहते हैं कि इसमें भाग लेने वाले तांतिया तोपे, लक्ष्मीबाई, नाना साहेब, बहादुर शाह अपने स्वार्थ से प्रेरित थे और इन्हें बाध्य होकर संग्राम में आना पड़ा था। Charlotte Elizabeth, Duchess of Orleans and the Mother of Regent ने जब बोहेमिया के नृप अपने पितामह

तथा Louis XIV के सम्बन्ध में इतिहासोल्लिखित कुछ घटनायें पढ़ीं तो बोल उठी।

If such lies are told of what happened comparatively lately, witnessed by our ownselves, what must we believe of things that we are told happened many years ago? I believe all histories, excepting Holy Scriptures, to be as false as any romance, the only difference being that the latter are more diverting.

(The Art & Practice of Historical Fiction by Alfred Tresidder Sheppard.

"यदि अपेक्षाकृत हाल की घटनाओं के बारे में जिन्हें हम लोगों ने स्वयं देखा है इस तरह की झूठी बातें कही जाती हैं तो बहुत प्राचीन घटनाओं के सम्बन्ध में जो बातें कही जायें उनका क्या विश्वास? मेरा तो विश्वास है कि Holy Scriptures के सिवा सारा इतिहास इतना ही असत्य है जितनी कि कोई रोमांस-कथा। अन्तर है तो केवल इतना ही कि रोमांस अधिक मनोरंजक होता है।" इन सब बातों को देखकर इतिहास को भी कल्पना से अधिक मानने का जी नहीं करता।

इधर उपन्यासों पर भी दृष्टिपात कर लिया जाय। उपन्यासों के नाम पर आज जो तरह-तरह के प्रयोग चल रहे हैं मैं उनकी बात नहीं करता। बात कर रहा हूं थैकरे की, डिकेन्स की, प्रेमचन्द की, जिनकी प्रतिभा ने उपन्यास को निरादर, अपमान तथा उपेक्षा के गर्त्त से निकाल कर उसे शिष्ट मंडली में आदर और गौरव का स्थान दिलाया और जिनके पद चिन्हों का अनुसरण उपन्यास-कला आज भी कर रही है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में तत्कालीन आन्दोलनों तथा सामाजिक विचारधाराओं का

इतिहास मिल जाता है। प्रेमचन्द की शैली पर लिखित सेठ गोविन्द दास के उपन्यास इन्दुमती में कांग्रेस के आन्दोलन का तारीखवार इतिहास मिल जाता है। यदि कोई मुझ से कांग्रेस के इतिहास का ज्ञान देने वाली पुस्तक का नाम पूछे तो मैं इन्दुमती का उल्लेख करूंगा। इससे यही स्पष्ट होता है कि उपन्यास में भी ऐतिहासिकता होती है और इतिहास में भी औपन्यासिकता। तब इन दोनों में विभाजक रेखा क्या है?

यदि तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो विभाजक रेखा की कोई आवश्यकता नहीं। कारण मूल में जाकर सब चीजें इस तरह हिलमिल जाती हैं कि एक ही तत्व हाथ लगता है उसे चाहे जिस नाम से पुकारा जाय। कुछ ऐसे विचारक हैं जो यह कहते हैं कि नाटक, उपन्यास, कविता, महाकाव्य आदि के पृथक वर्गीकरण की क्या आवश्यकता है? केवल एक शब्द साहित्य से ही संतोष क्यों न किया जाय? भेद तो वाह्य उपाधियों को लेकर है, मूल में तो ये सब एक ही हैं। ऐसी अवस्था में हमें उपन्यास पर ही रुक जाना चाहिये। ऐतिहासिक उपन्यास जैसी एक नई जाति की क्या आवश्यकता? बात ठीक भी है। पर आलोचना व्यावहारिक जगत् की वस्तु है और हम इसका आश्रय तभी लेते हैं, जब हमारा ध्येय उसके व्यक्त स्वरूप पर ज्यों का त्यों विचार करना होता है, हम उसके न तो अतीत को देखते हैं, न भविष्य को। हमारा ध्यान उसके वर्तमान स्वरूप पर रहता है, हमारी दृष्टि प्रयोगशाला में परीक्षण करने वाले व्यक्ति की सी हो जाती है। प्रयोगशाला में क्या होता है? यही न कि परीक्ष्य वस्तु को उसके प्रकृत व्यापकत्व से हटा कर नियंत्रित परिस्थिति में लाकर हम उसके व्यापार का निरीक्षण करते हैं। उसी तरह एक पुस्तक को लेते हैं, उसे ज्यों की त्यों प्रयोगशाला में ले जाते हैं, उसे नियंत्रित (Controlled) परिस्थितियों

में स्थापित कर बाहरी प्रभावों से मुक्त कर देते हैं और तब परीक्षण आरम्भ करते हैं। यहां पर प्रयोगशाला तो वही है आलोचक की भावयित्री प्रतिभा, पर परिस्थितियों का निर्माण इतिहास करता है। इस प्रयोगशाला में ही ऐतिहासिक उपन्यास की पहचान होती है।

परन्तु ऊपर की पंक्तियों में इतिहास और उसकी विचित्रताओं के सम्बन्ध में जिस मत का उल्लेख किया गया है उससे इतिहास में प्रयोगशाला की वैज्ञानिक दृढ़ता कैसे आ सकती है? इसके लिये यही कहा जा सकता है कि इतिहास में अराजकता सी भले ही दीख पड़े परन्तु यह भी ठीक है कि हमारे अन्दर एक साधारण ज्ञान है कि इतिहास क्या है और यह किस तरह व्यवहार करता है !! चेतनता के नाते यह साधारण बुद्धि हमारे अन्दर सदा वर्तमान रहती है और बतलाती रहती है कि इतिहास क्या नहीं है! ज्यामिति में बिन्दु या पंक्ति की जो परिभाषा दी गई है वे कितनी भ्रामक हैं। पर उन्हीं के सहारे हम न जाने कितने महत्वपूर्ण कार्य साधित करने में सफल होते हैं। कितनी अभ्रंलिह अट्टालिकाओं तथा सेतुबंधों का निर्माण करते हैं। इसी तरह हमारी सहज ऐतिहासिक बुद्धि इतिहास और कल्पना का भेद-ज्ञान बनाये रखती है और दोनों की सीमा को पहचानती है।

आधुनिक युग में इतिहास तथा उपन्यास अथवा किसी कल्पनात्मक साहित्य के पार्थक्य का निर्धारण करना और भी कठिन हो गया है। एक युग था जब कि कल्पना (fiction) को ही सत्य (fact) बना कर उपस्थित किया जाता था। यह उपन्यास कला का प्रारम्भिक युग था और आज परिस्थिति यह आ गई है कि सत्य को ही

कल्पना बना कर रखा जाने लगा है। आपको कांग्रेस का इतिहास लिखना है, स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनैतिक या सामाजिक परिस्थिति का चित्रण करना है, बस आप दो चार पात्रों को लेकर कहानी रच डालें। आपका काम चल जायेगा। हम चाहें तो इन्हें Psuedo Novels कह कर कल्पनात्मक साहित्य के गौरव से वंचित रख सकते हैं।

पर बात इतनी सीधी और सरल नहीं जितनी ऊपर से दिखलाई पड़ती है। भाषा अपने व्यवहार करने वालों से कहीं अधिक सामर्थ्यवती होती है। प्रायः समझा तो यही जाता है कि भाषा व्यवहार करने वालों अर्थात् उसे लिखने-पढ़ने वालों अथवा बोलने वालों के हाथ में निर्जीव अस्त्र के रूप में रहती है वे जैसा चाहे उसका उपयोग करें। पर नहीं वह अधिक सशक्त होती है और कभी कभी क्या सदा ही बागडोर को छीन-कर अपने हाथ में ले लेती है। प्राचीन साहित्य में एक लोकोक्ति चल पड़ी थी "विनायकं प्रकुर्वाणः रचयामास वानरम्" तो लोगों ने सस्ते ढंग से यह बात नहीं कही थी। वे जानते थे कि कला कलाकार से कहीं अधिक प्रबल है। अतः, जितने भी तथा-कथित Psuedo Novels हैं उनके गर्भ में से कुछ ऐसे अंकुर निकलने लगते हैं जो आगे बढ़कर कल्पना की सीमा को छूते से दीख पड़ते हैं।

सम्भव है कि लेखक की इच्छा के बावजूद भी कोई पात्र अपूर्व महिमा से मंडित हो उठे, अतिरिक्त शक्ति से समन्वित हो जाय, इतिहास की सीमा ने उसकी जिस रूपरेखा का निर्माण किया है उसको लांघ कर अपने रूप को चमकाले। अर्थात् वास्तविकता की रिपोर्ट के लिए जितनी बात कहने की आवश्यकता है उससे कुछ अधिक मुखरित हो उठे। जड़

पत्थर भी सजीव हो उठें और रवीन्द्र के पाषाण की भांति अपनी कहानी कहने लगें। लेखक कुछ ऐतिहासिक घटनाओं के सहारे उस समय की परिस्थिति का चित्रण करना चाहता है। पर वे घटनायें परिस्थिति का चित्रण मात्र ही न होकर आत्मबोध भी देने लग जा सकती हैं। हम उनमें रस भी लेने लग जा सकते हैं। पत्थर में से रस की एक पतली रेखा भी फूटती सी दीख पड़ती है। ऐसी सूरत में आलोचक बेचारा क्या करे ?

यहां एक प्रश्न किया जा सकता है। आप ऐसे ग्रन्थों की चर्चा ही क्यों करते हैं जिनमें इतिहास की रिपोर्टिङ्ग के अतिरिक्त भी कुछ बातें मिलती हैं, अच्छी या बुरी। आप उन्हीं ग्रन्थों पर विचार करें जिनका उद्देश्य उपन्यास के नाम पर इतिहास भर देना है। क्या ऐसे ग्रन्थों की कल्पना नहीं की जा सकती जिन्हें उपन्यास का नाम दिया गया हो, परन्तु किसी ऐतिहाहिसक तथ्य के वर्णन मात्र से अधिक उसमें और कुछ न हो। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि सिद्धान्ततः ऐसी विशुद्ध पुस्तक को रचना को मान लेने में कोई आपत्ति तो नहीं है परन्तु व्यवहार में ऐसा होता कम है। कितनी भी अभेद्य तथा मजबूत रक्षा-पंक्ति बैठाई जाय उसमें दरार पड़ ही जाती है और वहां से घटनायें झांक कर मानवता के भागधेय की ओर देखने लगती हैं।

मुझे ठीक याद है; बचपन में, एक दिन मेरी मां रसोई घर में मेरे खाने के लिये रोटी बनाने की तैयारी कर रही थी। तवे पर से पहली रोटी जो उतारी गई तो मैंने उसे खाने के लिए हाथ बढ़ाकर मांगा। मां ने वह नहीं दी। कारण पूछने पर उसने कहा कि प्रथम और अन्तिम रोटी नहीं खानी चाहिये। इस बात से मुझे सन्तोष नहीं हुआ। मैंने पूछा

''अच्छा, यह तो बताओ, यदि दो ही रोटियां बनी हो तब क्या किया जाय ? इस पर उसने कहा कि गईल घर की बातनइखीं करत अर्थात् मैं गये घर की बात नहीं कह रही हूं। एक साधारण गृहस्थ की बात कर रही हूं जहां सदा दो से अधिक रोटियां बनती हैं। उसी तरह शायद ही कोई रचना होती हो जिसके यहां दो से अधिक रोटियां नहीं पकती हों। यदि कोई रचना है तो वहां चूल्हा जलता नहीं, या तो फाकेकशी की जाती है या भीख मांगी जाती है अर्थात् वहां पर उपन्यास या नाटक बनाने का नाम भी नहीं लिया जाता।

अतः ऐसी किसी भी रचना पर विचार करने के पूर्व जो साहित्य का अर्थात् उपन्यास, कहानी या नाटक का पर लगा कर चलती हो, आलोचक को सब तत्वों को पहचानना होगा, इनके पारस्परिक सम्बन्धों का मूल्यांकन करना होगा। तय करना होगा कि रचना किन किन तत्वों के सहारे किस हद तक साधारण सतह से उठ कर साहित्य की ऊंची भाव भूमि पर पहुंचाती है। क्योंकि ऐसे उपन्यास होते हैं और हुए हैं, जो दोनों स्वामियों अर्थात् उपन्यास और इतिहास की सेवा में नियोजित हो सकते हैं। अंग्रेजी में चार्ल्स डिकेन्स के उपन्यास ऐसे ही हैं। वे उपन्यास कला को भी संतुष्ट करते हैं, साथ ही तत्कालीन सामाजिक बुराइयों पर भी प्रकाश डालते हैं। हिन्दी में सेठ गोविन्ददास के उपन्यास इन्दुमती का भी नाम लिया जा सकता है जिसमें कलात्मकता की सुरक्षा के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास भी दिया हुआ है।

परन्तु ऐसी पुस्तकों पर विचार करते समय आलोचक को अपनी दृष्टि स्पष्ट रखनी होगी। जब वह पुस्तक पर साहित्य अथवा उप-

न्यास कला की दृष्टि से विचार करता है तो ऐतिहासिक सत्यता की मांग करने वाली दृष्टि को पृथक रखना पड़ेगा। अथवा यदि ऐतिहासिकता की मांग करता है तो कला की दृष्टि ओझल रहेगी। दोनों दृष्टियों के यौगपत्य को लेकर आप इन पुस्तकों के साथ न्याय नहीं कर सकते। इस दृष्टि से इतिहास के संदर्भ में विचार करने पर उपन्यासों को चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) ऐसे उपन्यास जिन पर कला की दृष्टि से विचार किया ही नहीं जा सकता। उनके सम्बन्ध में विचार करते समय यही कहा जा सकता है कि इसके लेखक ने चीन की या जर्मनी की या स्वातंत्र्योत्तर भारत की ऐतिहासिक प्रगति की रूपरेखा देने की चेष्टा की है और इस उद्देश्य से उसने साहित्य के उस रूप-विधान का आश्रय लिया है जिसे उपन्यास कहते हैं। आगे बढ़कर उपन्यास की एक एक-एक घटना के सहारे कहा जा सकता है कि इस उद्देश्य में कहां तक उसे सफलता या विफलता प्राप्त हुई है।

(२) दूसरी श्रेणी में वे उपन्यास होंगे जिनका मूल्यांकन कला की दृष्टि से भी हो सकता है और इतिहास की दृष्टि से भी, पर दोनों का यौगपत्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। डिकेन्स की Tale of Two Cities अथवा सेठ गोविन्ददास की इन्दुमती नामक उपन्यास इसी श्रेणी में पायेंगे। इन दोनों दृष्टियों से विचार किया जा सकता है पर अलग अलग।

(३) तीसरी श्रेणी उन उपन्यासों की होगी जिन पर हम दोनों दृष्टियों से युगपत् रूप में विचार कर सकते हैं। स्काट के तथा एलेकजेंडर ड्यूमा के उपन्यास, वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास, मुन्शी के उपन्यास, यशपाल की दिव्या, श्रीवास्तव का 'बेकसी का मजार' इसके अच्छे उदा-

हरण हो सकते हैं। इनमें कलात्मकता तथा ऐतिहासिकता दोनों का अपूर्व समन्वय हो सका है।

(४) चौथी श्रेणी में हम उन उपन्यासों को रख सकते हैं जिनमें किसी ऐतिहासिक पात्र का जरा सा सहारा ले लिया गया हो। जैसे मानों हृदय का घाव पका हो, जरा सा किसी नुकीली सुई से छू दिया कि वह फूट कर बह चला। सम्भव है ऐसे उपन्यास में घटनायें या पात्र एकदम कल्पित हों पर उनको इतिहास के पात्रों तथा घटनाओं से मिला कर देख लेना कठिन नहीं होता। जैनेन्द्र का जयवर्द्धन इसका अच्छा उदाहरण हो सकता है। यह है तो कलात्मक वस्तु ही, पर किसी भी पाठक के मस्तिष्क पर यह संस्कार उगे बिना नहीं रहेगा कि स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीति ने इसके लिए पृष्ठभूमि तैयार की है। राजनीतिक रंगमंच पर काम करने वाले नेताओं में भी इस उपन्यास के पात्रों की झलक देख लेना कठिन नहीं।

इतिहास लेखक तथा कलाकार अर्थात् उपन्यासकार की कार्य-प्रणाली में क्या अन्तर है, इस पर भी विचार कर लेना चाहिये। यह देख लेना चाहिए कि दोनों की आधारभूत सामग्री के निर्वाचन में तथा उसके प्रतिपादन के ढंग में क्या अन्तर है। ऐसी कौन सी वाध्यता है जिसके कारण इतिहासकार कलाकार का गौरव पाने से वंचित रह जाता है। आखिरकार कोई दृढ़तापूर्वक कह ही कैसे सकता है कि इतिहास में साहित्यिकता कथा का लिबास अपनाए बिना आ ही नहीं सकती। Gibbon इतिहासकार भी हैं और उनकी पुस्तक The Decline and the Fall of the Roman Empire इतिहास के सिवाय अन्य किसी श्रेणी की पुस्तक नहीं है। पर उसे साहित्य की पुस्तक भी कहा जा सकता है। यही बात

Careyle, Renan तथा अन्य बहुत से ग्रन्थकारों के बारे में भी कही जा सकती है।

इन दोनों मूल्यों के एक साथ मिल जाने का कारण यही है कि इतिहासकार को कल्पना से काम लेना ही पड़ता है। (जहां तक कुछ घटनाओं तथा आंकड़ों को उपस्थित करने का प्रश्न है वैज्ञानिक स्थूलता, दृढ़ता तथा यथातथ्यता वाली पद्धति अपनाई जा सकती है। परन्तु जरा भी आगे बढ़ कर इन घटनाओं को व्यवस्थित कर, उन्हें परस्पर संबद्ध रूप में उपस्थित करने का प्रश्न आया, इतिहासिक खंडहरों में से प्राप्त टुकड़ों की व्याख्या करने की समस्या सामने आई, जो अनिवार्य है, वहां-वहां ही विज्ञान की शक्ति की असमर्थता प्रगट हुई।)

हम इन घटनाओं के आधार पर कारण-कार्य की श्रृङ्खला को ढूंढ़ ले सकते हैं, ऐतिहासिक विकास के नियमों का भी अनुसंधान कर सकते हैं, Theory of surplus value या Dialectical Materialism के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सकते हैं। मार्क्स ने किया ही था। पर यह स्पष्ट है कि ये बातें रसायन शास्त्र अथवा भौतिक शास्त्र के नियमों का स्वरूप नहीं प्राप्त कर सकतीं। उनका रूप एक तरह से काम चलाऊ ही हो सकता है। हम विज्ञान की प्रयोगशाला में परिस्थितियों पर नियन्त्रण कर सकते हैं। जिन चीजों पर प्रयोग करना है उन्हें जब चाहें ला सकते हैं, जब चाहें तब ही हाइड्रोजन और आक्सीजन को मिलाकर जल की बूंदें तैयार कर ले सकते हैं, पर अकबर और शिवाजी को कौन बुलाने जायेगा? और तो और, हमें इतनी सी बात का भी निश्चय नहीं हो सकता कि जो घटनायें हमें उपलब्ध हैं और जिनके आधार पर हम

इतिहास की इमारत खड़ी कर रहे हैं वे परिस्थिति का वास्तविक द्योतन करती भी हैं या नहीं ?

यदि इतिहासकार सच्चा इतिहासकार है केवल सूखा लक्कड़ चीरने वाला नहीं, तो उसे मृत घटनाओं के सहारे एक सजीव चित्र का निर्माण करना ही पड़ता है, उसे इधर उधर की बिखरी सामग्री को संगठित रूप देना ही पड़ता है। यहां तक तो ठीक है कि वह इतिहासकार ही है, कलाकार नहीं, हालांकि उसने कलाकार के साधन अर्थात् कल्पना से ही काम लिया है। यदि वह मात्र चित्र–निर्माण करके रुक जाय तो वह इतिहासकार से अधिक गौरव का दावा नहीं कर सकता। एक ऐतिहासिक अनुसंधानकर्ता ने बड़े परिश्रम से नेपोलियन की इतिहास–विषयक सामग्री की खोजबीन की। वह इस परिणाम पर पहुंचा कि नेपोलियन कायर था। उसने विशेषज्ञों की एक समिति के सामने अपने अनुसंधान के परिणाम को पढ़ सुनाया। उसकी प्रक्रिया शुद्ध वैज्ञानिक है।

परन्तु वह एक और भी काम कर सकता है। वह चाह सकता है कि उसकी बातें लोग सुनें, उसके कथन में संप्रेषणीयता आये, उसके कहने का ढंग प्रभावोत्पादक हो। अतः, उसे शब्दों के चुनाव में कौशल से काम लेना ही पड़ेगा। यदि कोई ऐसा इतिहास लेखक है तो हम उसकी कारीगरी की, कुशलता की दाद दे सकते हैं। कह सकते हैं कि वह अपने अनुसंधान को कुशल कारीगर की भांति सजा कर रखने में सफल हुआ है। इसपर भी वह एक कुशल इतिहासकार ही है, कलाकार नहीं। उसकी रचना इतिहास का ग्रन्थ है, साहित्य का नहीं। साहित्य की ओर वह आगे बढ़ा जरूर है, और समीप भी आ गया है पर वह साहित्योपकण्ठ

में ही निवास करता है, साहित्य क्षेत्र में नहीं। गंगातटे घोषः है, गंगायां घोषः नहीं।

मेरे इस कथन का कारण क्या है ? कारण यह है कि इस कुशल इतिहासकार की सारी रचनात्मक प्रक्रिया, उसकी प्रतिभा के सक्रिय होने की पद्धति, उसकी मूल प्रेरणा का स्वरूप साहित्य से एकदम भिन्न है। दोनों में मौलिक विभिन्नता है। इतिहासकार की रचना-प्रक्रिया में दो बातें स्पष्ट हैं, उसकी प्रतिभा के दो चरण-निक्षेप स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते हैं। दो नहीं तीन कहिए। प्रथमतः उसने सामग्री एकत्रित की है, द्वितीयतः उसने उस सामग्री के आधार पर चित्र तैयार किया है और तब तृतीयतः उसने कौशल का सहारा लेकर संप्रेषणीय बनाया है।

परन्तु साहित्यकार की कार्य-प्रणाली दूसरी होती है। उसमें विषय (content) तथा उसके प्रतिपादन के ढंग (form) की समस्या अलग-अलग नहीं उपस्थित होती। यह नहीं होता कि कवि ने पहले विषय सोचा हो तब उसके प्रतिपादन करने की अथवा संप्रेषणीय बनाने की बात सोची हो। ये दोनों चीजें साहित्य में साथ साथ अवतरित होती हैं। कोई भी साहित्यिक संवेग अपनी रूपाभिव्यक्ति को साथ ही लिये आता है। "खुदा जब हुस्न देता है नजाकत आ ही जाती है।" हुस्न को नजाकत खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जहां हुस्न को नजाकत की खोज है वहां समझ जायें कि वह हसीन का काम नहीं। वह तो नाटक में अभिनय करने वालों का काम है। और इन दोनों को अलग अलग देखना सच्ची आशिकी नहीं, बाजारू हुस्न-परस्ती है, पफ और पाउडर पर जान देने वाली विकृत-रुचि है।

रोम के प्राचीन इतिहास का लेखक गिब्बन अपनी पुस्तक The Decline and The Fall of The Roman Empire में लिख तो रहा है इतिहास ही और रोम के पतन के कारणों पर प्रकाश भी डाल रहा है पर जहां कहीं भी किसी रहस्यमय कारण से ऐसा हो सका है कि रोम का इतिहास विश्व का इतिहास बनता सा दीख पड़ता है, रोम के पतन का कारण विश्व के पतन के कारण के रूप में उपस्थित सा होता दीख पड़ता है, अनधिगतशास्त्र तथा उन्मार्गगामी रोमन नृपों की कहानी संस्था और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या का रूप धारण करने लगी है वहां इतिहासकार का रूप छिपने लगा है। इतिहासकार दो रूपों में दिखलाई पड़ने लगा है। दार्शनिक के रूप में तथा साहित्यिक कलाकार के रूप में। जहां पर वह खुलकर स्पष्ट शब्दों में डंके की चोट से रोम के इतिहास को विश्व के इतिहास को प्रतीकात्मकता प्रदान कर रहा है वह दार्शनिक बन गया है। पर जहां उसकी भाषा की समृद्धि, शैली के सौष्ठव के कारण सार्वभौमिक प्रतीकात्मकता स्वयमेव झलकती सी हो, वहीं साहित्य की मूर्ति अवतरित होती है। वहां ऐसा लगता है—

लटा भवन ते प्रगट भो, तेहि अवसर दोउ भाई,
निकसे जनु जुग विमल बिधु, जलद पटल विलगाइ,

यह कहने के लिए तो बहुत साहस चाहिए कि इतिहासकार भी काल्पनिक गाथाओं का प्रयोग कर सकता है। पर जब कभी भी उपन्यासकार इतिहास की सामग्री से काम लेगा, वह गड़े मुर्दे उखाड़ कर नहीं रह जायेगा; वह अतीत का चित्र खड़ा करके ही सन्तोष नहीं कर लेगा।

वह वर्तमान को उद्भासित करेगा, अपने युग के सपनों को उसमें मिला-येगा। इतना ही वह उसे भविष्य का सन्देश-वाहक भी बनायेगा और इसके लिये उसे अपनी ओर से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं होगी। उसकी शैली, भाषा तथा उपन्यास का Pattern स्वयं अपनी कथा कहेंगे ! परिचय ? 'अखियन के आंसू' अपना परिचय स्वयं बतायेंगे ? घटनाओं पर इतिहास अपना पैटर्न देता है, साहित्य अपना। साहित्य ऐतिहासिक घटनाओं पर अपना पैटर्न देकर उपस्थित करता है, पर यह पैटर्न इतिहास के घर से उधार मांगी हुई या चुराई हुई चीज नहीं होती ! वह उसकी मौलिक चीज होती है ! जब साहित्य तथा इतिहास के पैटर्न एक हो जाते हैं तो वहीं इतिहास कला की वस्तु हो जाता है।

यह बात तभी स्पष्ट होगी यदि हम हिंदी के ऐतिहासिक कहे जाने वाले दो उपन्यासकारों को देखें, श्री किशोरीलाल गोस्वामी तथा प्रतापनारायण श्रीवास्तव। गोस्वामीजी हिन्दी के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार कहे जाते हैं। उन्होंने मध्ययुगीन राजपूत इतिहास के आधार पर अपने उपन्यासों की रचना की है। परन्तु राजपूत रमणियों का चरित्र उनके उपन्यासों में इतना विकृत हो उठा है कि वे जौहर करने वाली, मर्यादा की रक्षा करने वाली, प्रियतम के प्राणों के पण में, हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते कहने वाली वीर महिला से अधिक आशिकी-माशूकी की बाजारू हुस्न-परस्ती की पुतली मात्र हो गई हैं। तब भला इतने बड़े असत्य को पाठक किस तरह निगल सकता है। पाठक के मनोविज्ञान को देखा जाय तो पता चलेगा कि वह इतिहास के सहारे थोड़ी कल्पना अर्थात् असत्य को चला ले सकता है पर कल्पना अर्थात् असत्य के सहारे इतिहास को नहीं ले सकता। Sugar Coated कुनैन की टिकिया

की बात तो ठीक है पर इसके विपरीत वाली स्थिति Quinine Coated sugar की बात कोई नहीं करता ।

श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने १८५७ के भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम के नायक बहादुरशाह की जीवनी के आधार पर 'वेकसी का मजार' नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा है। उन्होंने इतिहास और उसकी घटनाओं के प्रति पर्याप्त सचाई और इमानदारी का निर्वाह किया है और पाठकों का विश्वास प्राप्त किया है। पर उस महान् आन्दोलन को अग्रसर करने वाले सैनिकों में एक ऐसी नारी को भी ला बिठाया, जिसका धीरे-धीरे यौन परिवर्तन होता है, वह स्त्री से पुरुष बन जाता है। पर दो कारणों से यह बात खटकती सी मालूम नहीं पड़ती, प्रथमतः तो ऐतिहासिकता की धूम-धाम में पाठक को इसकी ओर देखने की फुरसत नहीं रहती। दूसरी बात यह कि वह मुख्य पात्र है भी नहीं। यदि कभी इसकी ओर ध्यान जाता भी है तो पाठक जरा सा हंसकर रह जाता है।

अतः हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास की सीमा बहुत कुछ आपस में मिल जाती है पर हम सुविधा के लिए एक सीमा रेखा मान ले सकते हैं। इतिहास में कल्पना का पुट आजाना सहज है पर घटनाओं पर काल्पनिक रंग चढ़ाना इतिहास का काम नहीं। ऐतिहासिक उपन्यास में यात्रा के लिए निकलती तो है कल्पना ही, पर इतिहास को भी साथ ले लेती है। साथी मनोनुकूल हुआ तो वह उसका आदर सत्कार कर सकती है, उसकी दुर्बल तथा कृश देह-यष्टि को स्नेह-पोषण प्रदान कर हृष्ट-पुष्ट तथा सौंदर्य मंडित बना सकती है। यदि पूर्णरूपेण हार्दिक सम्मेलन नहीं हो सका तो उसे बराबर हृदय से लगाये न रखकर कभी कभी उसको छोड़ भी सकती है—कभी सदा के लिए या

अस्थायी तौर पर अथवा बीच-बीच में छोड़ कर भी साथ ले सकती है। उपन्यास का क्षेत्र अधिक व्यापक होता है। वह इतिहास के बाजार में दुकान छान सकता है पर घर नहीं बसा सकता, उसका वास्तविक स्थान Ivory Tower है। हां, कभी-कभी वह उस ऊंचाई से उतरकर इतिहास की सतह पर आ जा सकता है। इतिहास उसके गृह पर अतिथि के रूप में निमंत्रित होकर आ गया तो वह हर तरह के आदर सत्कार का अधिकारी होगा, पर वह वहां दखल जमा कर "मालिक मकां" नहीं बन सकता।

परिभाषा—अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष से रहित परिभाषा देना अति कठिन है। हम केवल पहिचान के सूत्र से ही सन्तोष कर ले सकते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास इस तरह की काल्पनिक कथा है जिसमें इतिहास का पुट हो। कुछ लोगों का कहना है कि यदि उपन्यास में ऐसी तिथियों, घटनाओं अथवा व्यक्तियों का समावेश हो जिन्हें हम पहचान सकें तो वह ऐतिहासिक उपन्यास कहा जायेगा। अधिकांश आलोचकों का यही मत मालूम पड़ता है कि इसमें किसी अतीत युग की ही कहानी होनी चाहिये। आधार-भूत इतिहास कितना पुराना हो, एक दिन, एक मास, एक वर्ष या एक हजार वर्ष, इस पक्ष पर भी विचार किया गया है। इसके लिए कोई समय निश्चित नहीं किया जा सकता।

एलेक्जैन्डर ड्यूमा का जन्म १८०३ में हुआ था। उन्होंने अपने उपन्यास "The She-wolves of Machecoul" में सन् १७९५ से १८४३ तक के बीच की फ्रांस की क्रांति को लगभग अर्द्ध शताब्दी के इतिहास को स्थान दिया है। इस तरह इसमें वर्णित अधिकांश घटनायें उसके समकालीन हो जाती हैं। फिर भी इस उपन्यास को ऐतिहासिक उपन्यास की श्रेणी से बाहर करना कोई भी पसंद नहीं

करेगा, हम अपनी ओर से इतना ही कह सकते हैं। साक्षात् तात्कालिक तथा समकालीनता के कारण घटनाओं तथा लेखक का व्यक्तित्व इतनी उग्रता के साथ वर्तमान रहता है कि उसमें काल्पनिक तटस्थता का अवसर नहीं रहता, जो कलात्मक वस्तु के निर्माण के लिए आवश्यक है। संस्कृत आलंकारिकों के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि उनमें भाव-दशा तक पहुंचाने की पात्रता तो रहती है, पर इससे आगे बढ़कर रस-दशा तक पहुंचाने की पात्रता उनमें नहीं रहती। अतः उपन्यास के आधार बनने की सुगमता के लिए इतिहास को साधारणतः ५० वर्ष पुराना होना चाहिये। इस अर्द्ध शताब्दी का अतीतत्व घटनाओं पर से आंखों में चकाचौंध उत्पन्न करने वाले अतिरिक्त प्रकाश को हटा देगा। कुछ अंश धुंधले हो जायेंगे और लेखक को बाध्य होकर अपनी तटस्थ कल्पना के सहारे उन चित्रों को भरना पड़ेगा। इतिहास घटनाओं को जिस विशिष्ट गौरव से समन्वित कर उन्हें साहित्योपयोगी बना देता है यह समय करने में समर्थ हो सकता है अन्य कोई शक्ति नहीं।

ऐतिहासिक उपन्यासों का वर्गीकरण:—सिद्धान्तः ऐतिहासिक उपन्यासों को कुछ श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

प्रथम विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास जिसमें इतिहास सजग प्रहरी की तरह अपने अस्तित्व की घोषणा करता रहता है। इसमें पात्र, उनके नाम, घटनायें, घटनाओं की रंगस्थली, दृश्य अर्थात् देश, काल तथा पात्र सब के सब ऐतिहासिक होते हैं। उपन्यास का सारा वातावरण इतिहास के द्वारा नियंत्रित रहता है।

दूसरी श्रेणी उन उपन्यासों की हो सकती है जिसमें लेखक की कल्पना अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिये नूतन आविष्कार का साहाय्य

भी प्रदान करती रहती है । उदाहरणार्थ, पात्र ऐतिहासिक हों, पर उन्हें अनेक नूतन परिस्थितियों, परीक्षाओं में ले जाकर कल्पित साहसिक कार्यों से सम्बद्ध कर उनकी प्रतिक्रियाओं का चित्रण किया जा सकता है। अथवा पात्र भी कल्पित हों, घटनायें भी कल्पित हों पर उनका संयोजन इस ढंग से किया जाय कि किसी युग के इतिहास से वह पूर्ण रूप से संगत होजाय, ऐसा लगे कि किसी कारण-वश नाम मात्र में परिवर्तन कर दिया गया है नहीं तो वर्णित पात्र तथा घटनाओं के छद्मवेश के पीछे झांककर वास्तविकता को पहचान लेना कठिन नहीं है ।

तीसरी श्रेणी अतंत्र ऐतिहासिक उपन्यासों की होगी जिसमें उपन्यासकार हर तरह के मिश्रण से काम ले सकता है। एक ही उपन्यास में अपनी सुविधा के अनुसार वास्तविक तथा काल्पनिक पात्रों, ऐतिहासिक तथा कल्पित घटनाओं का सम्मिश्रण कर एक भरे-पूरे उपन्यासों की रचना की जा सकती है। अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यास प्रायः इसी शैली में लिखे गये हैं।

प्रथम वर्ग के उपन्यासों को कुछ प्रारम्भिक सुविधायें अवश्य मिल जाती हैं। कथाकार की सबसे बड़ी कठिनाई है अपनी कथा के प्रति पाठकों का विश्वासोपार्जन करना। इतिहास का दृढ़ आधार पाकर यह बहुत कुछ सिद्ध हो जाता है। पाठक देखता है कि पात्र जाने पहचाने हैं, घटनायें तथा वातावरण भी इतिहासानुमोदित हैं तो लेखक की सत्य-निष्ठा के प्रति उसका हृदय श्रद्धावनत हो जाता है और उसके द्वारा दिये गये थोड़े से Fiction के प्रति वह नरम पड़ जाता है। पर लेखक को जहां एक ओर थोड़ी सी सुविधा मिल जाती है तो दूसरी ओर उसकी कठिनाइयों में वृद्धि भी हो जाती है। अनुभव यही है कि ऐतिहासिक घटनायें अपनी सत्ता की पृथकता तथा अपने स्वरूप की विशिष्टता के प्रति इतनी सतर्क रहती

हैं कि किसी भी बाहरी हस्तक्षेप को वे सशंक दृष्टि से देखती हैं और उसके प्रति विरोध की मनोवृत्ति बनाये रहती हैं। यदि लेखक ने विषय की रोचकता के लिए अथवा किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए थोड़ी सी भी असावधानी की, तो वह पाठकों का विश्वास खो बैठता है। ऐतिहासिक घटनाओं में उपन्यास के रूप में ढल जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती। विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास के उदाहरण कम मिलते हैं।

इस कठिनाई से बचने के लिए कथाकार दूसरे वर्ग के ऐतिहासिक उपन्यास की रचना करता है। इसमें घटनायें ऐतिहासिक हों तो पात्र कल्पित हो सकते हैं, अथवा पात्र ऐतिहासिक हों पर घटनायें कल्पित। इस तरह के ऐतिहासिक कथाकार को कल्पना-प्रसूत वस्तु को विश्वासोत्पादक ढंग से उपस्थित करने में बड़े कौशल से काम लेना पड़ता है। इतिहास में भी बहुत सी घटनायें ऐसी घटित होती हैं जो असम्भव सी लगें, पर उन्हें स्वीकार कर लेने में कोई कठिनाई नहीं होती क्योंकि इतिहास की चश्म-दीद गवाही का समर्थन उन्हें प्राप्त है और हाथ कंगन के लिए आरसी मांगना कौन पसन्द करेगा ? पर कल्पना को तो अपनी सफाई देनी पड़ती है। दूसरी कठिनाई यह है कि पाठक-वर्ग Conditioned होता है। परम्परा से सुनते आने के कारण किसी पात्र या घटना के प्रति उसके भाव दृढ़ होजाते है, उसके मानसिक संस्कार बद्ध-मूल होजाते हैं, वह एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखने के लिए अभ्यस्त हो जाता है। राम-रावण, अकबर-प्रताप, शिवाजी-औरंगजेब की विशिष्ठ मूर्ति उसके मानस-पटल पर अंकित है। उस मूर्ति पर आघात करने वाले साहित्य को स्वीकार करने के लिए वह सहज ही तैयार नहीं होता।

इस कठिनाई से बचने के लिए कथाकार अपनी प्रतिभा पर विश्वास

कर कल्पना के सहारे पात्र और घटनाओं दोनों को इतिहास से अलग कर स्वतन्त्र रूप में उपस्थित करता है, उनका जन्म इतिहास के पृष्ठभूमि पर न होकर कथाकार के मानस-पटल पर होता है। केवल ऐतिहासिक वातावरण का पुट बनाये रखना पड़ता है। इस पद्धति में कथाकार को थोड़ी सुविधा अवश्य हो जाती है। उसे घटनाओं तथा पात्रों को मनोवांछित तथा अभीष्ट-साधक ढंग से चित्रित करने की स्वतन्त्रता रहती है। इतनी सी बात का ध्यान रखना पड़ता है कि वे ऐसे स्वतन्त्र न हों कि घटनाओं का विकास तथा पात्रों का व्यवहार ऐतिहासिक वातावरण से संगत न हो सकें। संसार में इष्ट-सिद्धि के लिए मूल्य देना ही पड़ता है। डायन भी अपने मंत्र की सिद्धि प्राप्त करती है तो उसे 'मांग' या 'कोख' दोनों में से एक का बलिदान करना ही पड़ता है। तब कथाकार को ही यह सुविधा बिना मूल्य चुकाये कैसे प्राप्त हो। अतः इस पद्धति में कथाकार को इतिहास के साथ से जो एक सहज विश्वासोत्पादकता, सत्यता का बल प्राप्त रहता है उससे हाथ धोना पड़ता है और इस क्षति की पूर्त्ति उसे और अनेक ढ़ङ्गों से करनी पड़ती है।

कथाकार को परकाय-प्रवेश-कला में पूर्णरूप से प्रवीण होना चाहिये। उसे पात्रों तथा घटनाओं के शरीर में प्रवेश कर अपनी अभीष्ट-सिद्धि की साधना करनी पड़ती है। परकाया-प्रवेश कठिन कार्य है और खतरे से खाली नहीं है। पर मृत शरीर, निर्जीव शरीर, प्रवेश–निर्विरोध शक्ति से हीन-निर्वीर्य शरीर में परकाया-प्रवेश में सफल होजाना फिर भी अपेक्षाकृत कठिन नहीं है। पर जो शरीर जीता जागता हो, शक्ति-सम्पन्न हो, अपने साथ स्वतन्त्रता लेने का विरोधी हो उसकी काया में प्रवेश करना कितना कठिन है। यही काम ऐतिहासिक कथाकार को करना पड़ता है। कल्पित

पात्र तो निर्जीव होते हैं,उनमें कथाकार के विरोध करने की क्षमता नहीं होती। अतः उनके अन्दर पैठकर उन्हें मनोनुकूल बना लेना कठिन तो है, पर फिर भी असम्भव नहीं। किन्तु इतिहास की लंका के परकोटे के चारों ओर तो बड़े-बड़े मल्ल, योद्धा, राक्षस पहरा देते रहते हैं, इनमें पैंठ जाने के लिए मशक का रूप धारण करना पड़ता है। अतः, ऐतिहासिक कथाकार की समस्या दुहरी हो जाती है। प्रथमतः ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए पाठक के दृढ़ चैतन्य को, उसकी सतर्क संज्ञा को बड़े कौशल से कमजोर बनाना पड़ता है, उसे सुलाना पड़ता है और तब अपना कार्य आरम्भ करना पड़ता है। लिटन का प्रसिद्ध उपन्यास Last days of Pompii इस वर्ग के उपन्यास का प्रसिद्ध उदाहरण है।

इससे भी अधिक स्वतन्त्रता उस वर्ग के ऐतिहासिक उपन्यासों में होती है जिनमें कुछ पात्र अथवा घटनायें ऐतिहासिक हों और कुछ कल्पित तथा दोनों के मिश्रण से, ऐतिहासिक वातावरण से, सहज ही संगत होजाने वाले उपन्यास की रचना की गई हो। लिटन का The Last of the Barons इस वर्ग के ऐतिहासिक उपन्यास का अच्छा उदाहरण है। यहां ध्यान रखने की बात यह होती है कि कल्पित पात्र और घटनायें ऐतिहासिक प्रगति को न प्रभावित करने पावें क्योंकि ऐसी दशा में वह इतिहास से इतना अलग पड़ जायेगा कि उसे ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा देने में संकोच होगा। हां, ऐतिहासिक घटनायें या पात्र कल्पित व्यक्तियों के जीवन एवं घटनाओं के प्रवाह को प्रभावित करे तो इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं। राजनीति तथा इतिहास उन व्यक्तियों के भी जीवन को बहुत ही सूक्ष्म ढंग से प्रभावित करता है जो सब से दूर तथा तटस्थ हो कर जीवन व्यतीत करते हैं और जिन्होंने उनका नाम भी कभी

नहीं सुना हो। अतः इस तरह के उपन्यासों के दो ही रूप हो सकते हैं। ऐतिहासिक तथा कल्पित घटनाओं या व्यक्तियों में से कोई एक प्रधान रहे दूसरा गौण। संस्कृत नाटकों की शब्दावली में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि एक आधिकारिक रूप में रहेगा, दूसरा प्रासंगिक। यदि इतिहास प्रधान हुआ तो कल्पना उसके द्वारा निश्चित स्वरूप को और भी पुष्टता प्रदान करेगी, उन्हें अभिभूत करने का प्रयत्न नहीं करेगी। यदि कल्पना प्रधान हुई तो इतिहास उसके द्वारा बनाये चित्र में रंग भर उसके स्वरूप को निखार कर सामने लाने का प्रयत्न करेगा। कल्पना ने जो रेखाएं खींच दीं हैं उन्हें मिटाने को अथवा उनसे बाहर जाने की चेष्टा न करेगा। शैक्सपियर के ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास ही प्रधान है। जितने पात्र कल्पित हैं वे स्थिति को संभाल भले ही लेते हों, पर अधिक सक्रिय होकर घटना-प्रभाव को मोड़ने का साहस नहीं करते। स्काट हैं तो ऐतिहासिक उपन्यासकार, पर इतिहास मुख्य कार्य का विधायक नहीं है, उसकी मुख्य विधायिका है कल्पना। इतिहास कल्पना का सहायक मात्र है।

साधारणतः लोगों की यह धारणा है कि जीवन की यथातथ्यता को उपजीव्य मान कर तथा उसका अधिकाधिक अनुसरण कर चलने वाली रचनाएं ही उत्कृष्ट साहित्य की श्रेणी में आ सकती हैं। जब से यथार्थवाद का प्रचार हुआ है और वैज्ञानिक दृष्टि लोगों में जगी है तब से इस प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिला है। किसी साहित्यिक रचना की मूल प्रेरणा का पता पा लेना सहज नहीं है कारण कि उसकी सिद्धि के लिए कितनी ही चेतन या अचेतन प्रवृत्तियां सक्रिय रहती हैं पर जब उपन्यास कला ने इतिहास की ओर पैर बढ़ाया होगा उस समय यथार्थवादी दृष्टिकोण से

ही संकेत मिला होगा और उसने ही उपन्यास को इतिहास के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिए प्रोत्साहित किया होगा। दंत-कथाओं ने बहुत काल तक लोगों के हृदय में स्फूर्ति का संचार किया होगा, तत्पश्चात् रोमांस को यह कार्य-भार सौंपा गया होगा। बाद में इनसे काम न चलता देख कर साहित्य ने यथार्थवाद को अपनाया होगा। इस प्रवृत्ति का प्रतिफलन हम डीफो, फील्डिग इत्यादि की रचनाओं में पाते हैं। यद्यपि डीफो और फील्डिग की रचनाओं में हम यथार्थवाद का प्रवेश अवश्य पाते हैं पर फिर भी Don Qunxote तथा Tom Jones की साहसिकता और adventures रोमांस के इर्द-गिर्द ही घूमते दिखलाई पड़ते हैं। ऐसा लगता है कि यथार्थवादिता को इससे पूरा सन्तोष नहीं होगा और उसने इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिए Scott की प्रतिभा को ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की ओर प्रवृत्त किया होगा।

Scott के ऐतिहासिक उपन्यासों में रोमांटिक तत्व न हों सो बात नहीं। प्रचुर मात्रा में उनका उपन्यास रोमांटिक तत्वों से भरा पूरा है। पर इतिहास का आश्रय ले लेने से उसकी तीक्ष्णता और उग्रता बहुत कुछ दूर हो जाती है, डंक बहुत कुछ टूट जाता है। अन्ततोगत्वा साहित्य का उद्देश्य पाठकों के हृदय में एक सुख . भ्रम का संचार करना है न! एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करना, जिसमें पाठक की विरोधी मनोवृत्ति शांत हो जाय, लेखक के प्रति उसमें विश्वास भावना जगे और वह देय को ग्रहण करने की मनोवृत्ति धारण कर ले। ऐसे मौके पर इतिहास ने आकर बड़ा काम किया और इस विरोधी मनोवृत्ति को शांत किया। यह विरोधी मनोवृत्ति वाली बात और भी स्पष्ट होकर हमारे सामने आती है जब हम देखते हैं कि उपन्यासों के प्रति लोगों

में अच्छी धारणा न थी और उपन्यासों के पढ़ने को हेय दृष्टि से देखा जाता था। स्काट की उपन्यासकला ने इतिहास का सहारा पाकर यथार्थवाद की बढ़ती प्रवृत्ति को गम्भीरतर संतोष प्रदान किया साथ ही समाज के सभ्य तथा शिष्ट वर्ग के लिए आदर का पात्र बनाया।

यहां पर एक और प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। साहित्य के लिए इतिहास या कल्पना इन दोनों में किसका महत्त्व अधिक है। यों तो कवि की प्रतिभा किसी भी वस्तु को छू कर पारस बना दे सकती है। पर प्रश्न यह है कि वस्तु अपने विशुद्ध रूप में उपन्यास कला को श्रेष्ठ बनाने वाली कौन सी होगी ? क्या ऐतिहासिक कथा-वस्तु में साहित्य को उदात्त बनाने की अधिक मौलिक योग्यता होती है और कल्पित कथावस्तु में अपेक्षाकृत कम ? क्या भूत-प्रेत-परियों, दानवों तथा देवताओं की कथा कहने से उपन्यास-कला अपने लिए एक अतिरिक्त बला मोल लेती है और अकबर, शिवाजी, रिचार्ड और क्रामवेल को साथ लेकर अपने मार्ग को प्रशस्त कर लेती है ? किसी वस्तु पर विचार करने के दो तरीके हो सकते हैं।

(१) प्रथमतः तो यह कि हम उसके मूल से प्रारम्भ करें और उसकी प्रगति के प्रत्येक चरण के साथ चरण मिलाकर यात्रा करते हुए उसके विकास-क्रम का निरीक्षण करते जायें।

(२) द्वितीयतः हम परिणति से ही आरम्भ कर मूल तक पहुंचाने का प्रयत्न करें। वृक्ष को देखिये और प्रतिलोम गति से यात्रा करते हुए बीज तक पहुंचाने का प्रयत्न कीजिए। यदि प्रथम पद्धति अपनाई जा सके तो वह कुछ सुविधाजनक हो सकती है। पर यह समय साध्य है और बहुत कुछ आत्मनिष्ठ प्रक्रिया है। इस पद्धति से विचार

करने में केवल स्रष्टा ही समर्थ हो सकता है अथवा उसके साथ रहने वाला अन्तरङ्ग मित्र—श्री कृष्ण के उद्धव की तरह ! कहा जाता है कि उद्धव श्री कृष्ण के सब कुछ थे—महाभृत्य, महाशिष्य, महामात्य। वे कभी भी भगवान का साथ नहीं छोड़ते थे। यहां तक कि अन्तःपुर के भी वे साक्षी थे। यदि स्रष्टा का कोई ऐसा अन्तरङ्ग सखा मिले तभी हमें बीज से ले कर चरम परिणति के इतिहास की झांकी मिल सकेगी, पर यह दुर्लभ है। साहित्यिक वस्तु की परिणति ही हमारे सामने रहती है, हम उसके सिद्ध रूप को ही देख सकते हैं, साध्यमान् को नहीं। अतः दूसरी पद्धति से ही अधिक काम लेना पड़ता है। एक रचना अपने पूर्ण विकसित रूप में हमारे सामने है। हम उसकी एक एक परत उधेड़ कर देखते हैं, अपनी बुद्धि से भी काम लेते हैं, दूसरों से भी सहायता लेते हैं, यहां तक कि स्रष्टा से भी कुछ प्रकाश पा ले सकते हैं। इस तरह एक सिद्ध साहित्यिक वस्तु को हम हाथ में लेते हैं तो क्या हाथ लगता है ?

पहली बात तो यह हाथ लगती है कि यह भाषा के माध्यम से किसी वस्तु की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति शब्द जरा भारी सा जान पड़े तो कहिये कि वर्णन है। अच्छा, अभिव्यक्ति या वर्णन सदा सक्रिय होते हैं, निर्माणात्मक होते हैं। अभिव्यक्ति कभी भी निष्क्रिय नहीं होती, अभिव्यक्तमान वस्तु को ज्यों की त्यों उपस्थित नहीं कर सकती। वस्तु और अभिव्यक्ति के बीच में व्यक्ति आ जाता है। जिस अतीत में मनुष्य भाषा का आविष्कार नहीं कर सका होगा और मूक की तरह संकेतों के द्वारा ही अभिव्यक्ति करता होगा उस समय भी अभिव्यक्ति सत्य-स्थापन में समर्थ नहीं होती होगी। अभिव्यक्ति, वस्तु में कुछ जोड़-जाड़ या कांट-छाँट करती ही होगी। भाषा के आविष्कार ने इस पार्थक्य या दूरी को एक पग और

बढ़ाया होगा। भाषा ने साहित्य का रूप धारण किया तो इस पार्थक्य में और भी अभिवृद्धि हुई और साहित्य जब नाटक, उपन्यास इत्यादि बना तब तक वह मूल वस्तु से एकदम दूर जा पड़ा था। अतः साहित्य पर (यहां उपन्यास पर) विचार करते समय यह विचार करना उसमें कितना अंश कल्पना का है और कितना अंश यथार्थ का इस प्रश्न को छेड़ना ही छाया के साथ लठैती करने तथा अपने ही कंधों पर चढ़ने के प्रयत्न के समान व्यर्थ है।

साहित्य एक ऐसा रासायनिक मिश्रण है कि इसके निर्माण के तन्तुओं को पृथक कर देखना असम्भव है। साहित्य के केन्द्र में व्यक्ति प्रतिष्ठित रहता है, साहित्य के माध्यम से मानव अपने को अनेक परिस्थितियों में रखकर देखना, पहचानना चाहता है। अतः देखना यही है कि उपन्यास या साहित्य के द्वारा मानवीय सम्बन्धों की कहां तक अभिव्यक्ति हो सकी है। अतः उपन्यास के पात्र कैसे भी हों, दिव्य अदिव्य या दिव्यादिव्य इसकी परवाह नहीं। पात्र के रूप में जड़ या चेतन किसी को उपस्थित किया जा सकता है। आकाश और पाताल को एक कर देने वाली घटनाओं का भी समावेश हो सकता है पर सब के केन्द्र में मानव की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। वे मानवीय सम्बन्धों, मूल्यों और महत्त्वों के प्रकटीकरण में कितने समर्थ हैं हमारे लिए इतनी सी ही बात महत्त्वपूर्ण है। यदि एक पत्थर के ठीकरे की आत्मकथा हमें मानवीय रहस्यों, सम्बन्धों, मूल्यों को समझाने में सहायक है, यदि वह हमें विश्व के साथ पारस्परिक सूत्रों में गतिशील रूप में आबद्ध दिखला कर, अपने को पहचानने की शक्ति देता है, हम में मानव की destiny की झांकी लेने की सामर्थ्य पैदा करता है, तो वह उच्चकोटि का साहित्य है। यदि अशोक, शिवाजी या महात्मा गांधी को लेकर सृजित रचना भी हमें अन्दर से उभाड़ती नहीं, कुछ आत्म–निरीक्षण की प्रेरणा

नहीं देती, केवल थोड़ी बहुत उल्टी सीधी कथा भर कह कर रह जाती है। हमारे हृदय में सपने नहीं भर देती तो वर्णन भले ही अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण भी हो पर श्रेष्ठ साहित्य के पद की अधिकारिणी नहीं हो सकती।

साहित्य का काम बोध भर ही देना नहीं है (वह तो वह देता ही है) पर आगे बढ़ कर आत्म-प्रकाश भी देना है। एक ऐसा प्रकाश जो दिन की खुली रोशनी में नहीं मिल सकता—रात्रि में एक टार्च की सहायता से देखने में प्राप्त होता है। दिन के खुले प्रकाश में प्रकाश पा लेना भी अपने में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है पर अन्धकार के गढ़ को चीर कर एक पतली किरण जब प्रवेश करने लगती है और क्रमशः वहां के रहस्यों का उद्घाटन होने लगता है तब मानव हृदय एक अपूर्व आनन्दोल्लासानुभूति से भर जाता है। विशुद्ध प्रकाश और अन्धकार को पराजित करता हुआ प्रकाश दो चीजें हैं। एक में निष्क्रियता है, दूसरा सक्रिय है, एक स्थितिशील है, दूसरा प्रगतिशील। अतः साहित्य में गतिशील प्रकाश ही महत्त्वपूर्ण होता है। यदि अन्धकार न हो तो भी कृत्रिम रूप से अन्धकार की सृष्टि करना प्रकाश को उस पर हावी होता हुआ दिखलाने का प्रयत्न करना पड़ता है।

वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में इस तरह के कृत्रिम अन्धकार की सृष्टि करने की व्यवस्था की जाती है। तब साहित्य की प्रयोगशाला में इस तरह के प्रयोग की व्यवस्था क्यों न हो? इतिहास दिन का नैसर्गिक प्रकाश है और कल्पना रात्रि का अन्धकार। ऐतिहासिक उपन्यास दिन के खुले प्रकाश में अपना व्यापार करते हैं, वहां प्रकाश का इतना आधिक्य रहता है कि कोई चीज ठीक से नहीं देखी जा सकती। प्रकाश इस तरह अपनी सत्ता बनाये रख कर छाया रहता है कि वह ही आवरण बन जाता है। अतः कला, नेत्रोन्मेषिणी कला, इतिहास के कुछ अंश को आवृत कर रखने वाले

प्रकाश के प्रांगण से हटाकर कल्पना की कोठरी में ले जाती है और वहां उसे एक टार्च के सहारे देखने दिखलाने का उपक्रम करती है । उपन्यास अन्धकाररूपी गजकुम्भ को विदारण करते हुए सिंह की दीप्ति है और ऐतिहासिक उपन्यास, सिंह के द्वारा विदारित होती हुई गजकुम्भ की श्यामलता, जिसके गर्भ से शत् शत् मुक्ताएं बिखर-बिखर पड़ती हैं। हम रूपक की भाषा में बोल रहे हैं। अतः इसमें दीख पड़ने वाली असंगति को अपनी सहज बुद्धि से दूर कर वास्तविकता को पहचान लेनी चाहिए।

प्रथम पद्धति से विचार करने में अर्थात् बीज से आगे बढ़ कर अंकुर तथा वृक्ष बनने के सातत्य को देखने में आलोचना को उतनी सुविधा नहीं होती। यह काम स्रष्टा का है। पर आलोचक, स्रष्टा के सहारे यहां भी कुछ तथ्य का पता लगा सकता है। बहुत से कथाकारों ने अपनी कहानी की 'कहानी' कही है और बताया है कि मूल रूप में प्राप्त हुआ एक छोटा सा बीज किस-किस तरह कहां-कहां से रस-ग्रहण करता हुआ, किन-किन बाधाओं को झेलता हुआ अपनी परिणति को पहुंचा है। हिन्दी में इस तरह का प्रयत्न नहीं हुआ है। प्रेमचन्द ने एक स्थान पर सिर्फ इतना ही कहा है कि रंगभूमि का प्लाट एक अन्धे भिखारी को देख कर ही उनके मस्तिष्क में आया था। पर उन्होंने आगे बढ़ कर उस छोटे से बीज को रंगभूमि के रूप में परिणत करने वाली शक्तियों का स्वरूप निश्चित नहीं किया है। इस दृष्टि से अंग्रेजी के प्रसिद्ध औपन्यासिक हेनरी जेम्स के Prefaces बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं जहां उन्होंने कहीं से आ पड़ने वाली छोटी सी चिनगारी को एक तेजःपुंज वृहज्ज्वाल के रूप में परिणत करने वाली सारी शक्तियों का विश्लेषण किया है। यहां पर उनके एक Preface के आधार पर बतलाने की चेष्टा कर रहा हूं कि एक छोटी सी सांस को झंझावात

बना देने के लिए प्रतिभा कहां कहां से उपकरण एकत्र करती है। इससे यह भी समझने में सहायता मिलेगी कि साहित्यिक या कलात्मक सृष्टि में इतिहास (सत्य) और कल्पना का स्वरूप कैसा होता है।

हेनरी जेम्स का एक प्रसिद्ध उपन्यास है The spoils of Poynton, उसकी भूमिका में उसने लिखा है कि वर्षों पहले, एक बार जब वह किसी प्रीतिभोज में सम्मिलित होने के लिए गया तो वहां पर अपने मित्रों के साथ तरह-तरह के वार्तालाप के प्रवाह में निमग्न था कि न जाने कहां से बहता बहता एक तृण आगया। वह था तो छोटा ही पर वह इतना नुकीला प्रामाणित हुआ कि वह हृदय-रंध्र के उस स्तर तक पहुंच गया जहां से सृजन का प्रारम्भ होता है। वार्तालाप के प्रसंग में एक मित्र ने उत्तर की तरफ रहने वाली एक महिला की चर्चा छेड़ दी। वह महिला सभ्य, शिष्ट और भद्र थी। उसका एक इकलौता पुत्र था जिसे वह बहुत प्यार करती थी। पुत्र भी ऐसा वैसा नहीं, हर तरह से आदर्श। पिता की मृत्यु निकट जान पड़ती थी। पिता के पास कुछ बहुमूल्य Furniture था। उनके उत्तराधिकार को लेकर माता और पुत्र में विरोध की मात्रा इतनी बढ़ गई कि आज वे एक दूसरे के जानी दुश्मन हो रहे हैं।

बात इतनी ही सी थी। इसमें मुश्किल से दस शब्द रहे होंगे, पर इतने से ही मानो बिजली की चमक की तरह उसका सारा मानस प्रदेश उद्भासित हो गया और उसमें उपन्यास की पूरी रेखा की अवस्थिति दृष्टि-गोचर होने लगी। कल्पना कीजिये कि सुसज्जित तथा सब तरह की मनोहर सामग्रियों से पूर्ण स्वागत कक्ष है, बिजली के बटन को दबाते ही कल्पना अपनी गौरववाम महिमान्विता के साथ प्रगट हो गई हो। ऐसी स्थिति में देय कुछ अधिक है।

लेखक की हुई। यहां तक कि जब इस प्रसंग की और बातें कही जाने लगीं कि दोनों प्रतिद्वन्द्वियों में किस-किस तरह की चोटें चलने लगीं, एक ने दूसरे को मात देने के लिए कौन सी गोटी उठाई, दोनों में अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए कैसे कैसे आघात-प्रतिघात होते रहे तो उसने इन सब के प्रति अपने कान ही मूंद लिए। होना तो यह चाहिये था और आपाततः यह बात ठीक भी मालूम होती है कि लेखक विस्तार की इन बातों का स्वागत करता, ध्यान देकर सुनता और अपने कथा-निर्माण में इनसे सहायता लेता। पर वह इन्हें व्यर्थ तथा अपनी कला-वस्तु की निर्मिति में बाधक समझता रहा।

(प्रकृति (सत्य) मानों एक स्नेहमयी पगली मां हो जो अपने स्नेहातिरेकावेश में बच्चे को प्यार करते समय, पालने पर झुलाते समय प्यार के चुम्बनों और अलिंगन के भार से ही उसका दम घोंट दे। अतः उसे इस व्यापार से रोकना चाहिए। यही काम लेखक करता है। वह देखता है कि समय रहते, बच्चे की जान रहते या तो मां को इस घातक व्यापार से निवारित करना चाहिये, नहीं तो बच्चे को ही वहां से ले भागना चाहिये। उत्पन्न तो करती है प्रकृति ही, पर खा भी वही जाती है, नष्ट भी वही करती है। प्रकृति की ध्वंस-लीला इतनी उग्र होती है कि उसका सृजनात्मक पहलू छिप जाता है और उसके रक्तरंजित पंजे ही (nature red in tooth and claws) दिखलाई पड़ते हैं। कलाकार का ही प्रताप है कि वह प्रकृति के बालक को उसकी प्राण-घातिनी गोद से छीन कर या और किसी प्रकार से उसकी रक्षा की व्यवस्था करे) प्रकृति ने तो कितने ही रामों को पैदा किया होगा और नष्ट कर दिया होगा। पर एक राम को कवि ने प्रकृति की गोद से हटा

कर अपनी गोद में लिया, आतिशय्य या अभाव दोनों दोषों से रहित उचित मात्रा में स्नेह-संपोषण देकर परिवर्द्धित किया और उसी के प्रताप से वह राम आज भी जीवित है। विल्हण ने अपनी पुस्तक विक्रमांकदेव चरित के प्रारम्भ में ही दो श्लोक लिखे हैं और वे हमारे प्रसंग में इतने मौजूं बैठते हैं कि उनको उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता।

(१) पृथ्वीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि
भूपाः कियन्तो व बभूवुरुर्व्यां जानाति नामापि न कोऽपि तेषाम्

(२) लंकापतेः संकुचितं यशो यद् यत्कीर्त्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः।

अर्थात् जिस राजा के पास कवि नहीं, भला उसे यश की प्राप्ति कहां? संसार में न जाने कितने राजाओं ने जन्म लिया परन्तु आज उनका कोई भी नाम-लेवा नहीं है। लंकापति रावण की कीर्त्ति आज इतनी मलिन पड़ी हुई है और राम इतने यशस्वी हैं—यह सब आदि कवि बाल्मीकि का प्रभाव है। राजाओं को कभी भी कवियों को नाराज नहीं करना चाहिए।

जमीन की किसी तह में हड्डी की एक छोटी टुकडी पड़ी है, कुत्ते को उसकी गंध का पता चलता है और वह उसे ले आता है। उसी तरह की गंध साहित्यिक भी सूंघता है और वहां पहुंच जाता है। पर कुत्ते में और कलाकार में अन्तर है। कुत्ता हड्डी की टुकड़ी लेता है तो उसे दांतों से चबा चबा कर नष्ट कर देने के लिए पर कवि उसे उठा कर लाता है तो उसे स्थायित्व देने के लिए, उसे अमरत्व-प्रदान के लिए। कुत्ते के स्थान पर हम प्रकृति को रख सकते हैं और कलाकार तो कलाकार है ही!

पूर्वोल्लिखित छोटे से संकेत पर हेनरी जेम्स ने अपने उपन्यास की भव्य

अट्टालिका का निर्माण किया है—वह संकेत जो मुफ्त में मिली चीज है जिसे किसी ने दी नहीं है, जो मिल गई है, भाग्य की तरह, अपने minimum रूप में, जो जरा भी ज्यादा मिलती तो गर्भस्थ शिशु जीवन ज्योति के दर्शन के पूर्व ही नष्ट हो जाता। बाहर से दूसरे लोगों द्वारा बताये गये संकेतों में स्थूलता होती है, आवश्यकता से अधिक बातें कही जाती हैं, उनकी नोक इतनी मोटी होती है कि सृजनधार के प्रवाह के लिए रंध्र नहीं बना सकती। ठोक पीट कर वैद्यराज बनाने वाले बहुत से correspondence courses की बातें सुनने में आती हैं पर इन्होंने किसी कथाकार को उत्पन्न किया हो यह बात सुनने को नहीं मिली। हां, जान को खतरे में डालने वाले नीम हकीम पैदा किये हों यह बात दूसरी है। जिस तरह हवा में सदा तैरते रहने वाले कीटाणु बड़े कौशल से उसी शरीर में प्रवेश करते हैं जो उनके लिए ripe है और वहां से अपनी कलात्मक वस्तु रोग का सृजन करते हैं। उसी तरह कथा के संकेत कहां नहीं हैं। सारा विश्व ही वृहद्‌कथा है जिसका दामन जरा निचुडा नहीं कि फरिश्ते उसमें वजू कर धन्य-धन्य होने लगते हैं।

हमारा उद्देश जेम्स की कला तथा The Spoils of Poynton का अध्ययन प्रस्तुत करना नहीं है। हम यहां इतना ही जानें कि इस छोटे से संकेत पर जिस कथा का निर्माण हुआ उसकी रूप रेखा यह है। Mrs Gereth के पुत्र Owen Gereto के विवाह की बात Mona Brigstock से तय हो चुकी है। इसी अवसर पर Fleda Vetch नामक एक लड़की के हृदय में भी Owen के लिए प्रेम के अंकुर उत्पन्न होते हैं। Fleda चतुर और प्रतिभावान् लड़की है और Mrs Gereth इसे पसन्द भी करती हैं पर भावी पुत्र वधू को नहीं चाहती और नहीं चाहती

कि उसके बहुमूल्य उपस्कर एक अवांछित व्यक्ति के हाथ लगें। अतः, वह उन्हें हटा कर एक दूसरे स्थान पर रखवा देती है। इस पर Mona बहुत क्षुब्ध होती है और विवाह का प्रस्ताव तब तक के लिये स्थगित हो जाता है जब तक कि वे हटाई गई बहुमूल्य सामग्रियां पुनः यथा-स्थान नहीं ला दी जातीं।

इसी परिस्थिति में Fleda, Mrs, Gereth से मिलने आती है। आने के पहले वह Owen से मिलती है और घटना के विकास क्रम से पूर्णतया परिचित हो जाती है। Owen मना कर देता है कि वह उसकी मां से अपनी प्रेमिका की शर्त की चर्चा न करे कारण कि इस बात को सुन मां का हृदय कड़ा न पड़ जाय और स्थिति में सुधार होने की रही सही आशा भी जाती रहे। वार्तालाप के प्रसंग में Fleda के मन में यह भी धारणा बनी है कि Owen के हृदय में उसके लिए तरल भाव हैं और परिस्थितियों के अनुकूल होने पर प्रेम की आधार-वस्तु में परिवर्तन हो सकता है अर्थात् Owen अपने पूर्वाग्रह का परित्याग कर Fleda से विवाह पर विचार करने के लिए तैयार हो जा सकता है। वह सोचती है कि यदि समस्या का समाधान एक ही है कि मां अपने मत पर कुछ देर और दृढ़ रहे तो Owen सामग्रियों के लौटाने के हठ को छोड़ देगा और Mona स्वयं मार्ग से हट जायेगी। ऐसी ही परिस्थिति में वह Mrs Gereth से मिलने जाती है।

यदि वह सीधी साधी, अपनी स्वार्थ-सिद्धि को प्रधान मानने वाली, अपनी प्रवृत्तियों को ही महत्त्व देने वाली नारी होती है तो सब कुछ सहज रूप में सुलझ जाता। पर वह बड़ी सुरुचि-सम्पन्न, सूक्ष्म-दर्शी, प्रबुद्ध-हृदय और विकसित-मस्तिष्क नारी है

और इस सस्ती दुनियादारी से उसे संतोष नहीं होता। वह सोचती है कि इस ढंग से सब कुछ हल हो जाता है, पर Mona के प्रति जो Owen का एक कर्तव्य है, Obligation है अथवा उन दोनों के प्रति उसका जो एक कर्तव्य है, उसका क्या हुआ ? क्या वह इतनी सस्ती चीज है कि उसे दुनियादारी के चलते सिक्के पर बेच दिया जाय। उसे सारे रहस्यों को भी छिपा रखना है। Mrs Gereth साधारण महिला नहीं है, चतुर, दुनिया देखी हुई, दूसरों के हृदय से बात निकाल लेने वाली। ये दोनों महिलायें अपने अस्त्र-शस्त्रों से लैस होकर आपके सामने आती हैं, और इन दोनों में जो चोटें चलती हैं, पैंतरेबाजी होती है वही उपन्यास का प्राण है और यह उपन्यास जिस रूप में हमारे सामने आया है। उसे देखकर कौन कहेगा कि इसकी नींव केवल "दस शब्दों" पर है। इतने बड़े अश्वत्थ वृक्ष को देखकर कोई यह कल्पना भी करता है कि यह कितने छोटे बीज से उत्पन्न हुआ है ? ऐसी अवस्था में कहना कठिन है कि (कला-वस्तु में कौन प्रधान है सत्य (इतिहास) या कल्पना "काकः किंवा क्रमेलकः"। हां, इतना ही कहा जा सकता है कि निर्मिति में कल्पना का देय कुछ अधिक है।)

काक प्रियतम के आगमन की सूचना भले ही दे और वह इसके लिए पूज्य भी है पर प्रियतम के साथ वास्तविक समागम तो उसे अपनी पीठ पर ढोकर लाने वाला ऊंट ही कराता है। ठीक उसी तरह उपन्यास के बीज की सूचना तो न जाने कितनों को मिली होगी पर ऐसे बड़भागी विरल ही होते हैं जिनकी कल्पना रूपी क्रमेलक की पीठ पर चढ़कर प्रियतम घर आता हो। अतः (कला-वस्तु में सत्य का महत्व नहीं है। महत्त्व इस बात का है कि स्रष्टा ने कहां तक उसके द्वारा मानवीय

सम्बन्धों और मूल्यों को परस्परान्वित देखा है। यदि इतनी सी बात है तो सृजन की अधिकांश समस्या हल हो गई अन्यथा व्यक्ति के सामने 'रामचरित' ही क्यों न हो उसका कवि बन जाना सहज संभाव्य नहीं हो सकता।

हेनरी जेम्स ने अपने एक लेख "The Art of Fiction" में कुछ बहुत ही उपयोगी बातें कहीं हैं जिससे इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि निरीक्षण और अनुभूति का सम्मेलन होता है तो किस तरह कला की जननी रासायनिक-संश्लेषण प्रक्रिया भी सक्रिय होती है। वह लिखता है 'मुझे याद है कि एक प्रतिभावान् अंग्रेजी महिला उपन्यासकार ने मुझ से कहा था कि उसने अपनी एक कथा में एक प्रोटेस्टेन्ट मतावलम्बी फ्रांसीसी नवयुवक का जिस रूप में चित्रण उपस्थित किया है उसकी बहुत ही प्रशंसा की गई है। उस से कितने ही लोगों ने पूछा कि उसे इस रहस्यमय व्यक्ति के सम्बन्ध में ही इतनी जानकारी कैसे और कहां से मिली। इस तरह के ज्ञान-वर्द्धक अवसर को प्राप्त करने के लिये लोगों ने उसे बधाई भी दी। यह अवसर इतना सा ही है कि एक समय पैरिस नगर में जब वह सीढ़ी से चढ़ कर ऊपर छत पर जाने लगी तो उसे एक ऐसे बरामदे से हो कर जाना पड़ा जिसका कमरा खुला हुआ था और जहां पर भोजनोपरांत अति तृप्त रूप में कुछ प्रोटेन्सेन्ट नवयुवक टेबिल के सामने बैठे हुए थे। इसी झलक ने मानस-पटल पर चित्र खींच दिया। यह झलक तो क्षणिक ही थी पर वह अनुभूति का क्षण था। उसके मस्तिष्क पर साक्षात् संस्कार उगे, पर उसने उसके द्वारा ही एक टाइप की सृष्टि की। वह जानती थी कि नवयुवक प्रोटेस्टेंट क्या होते हैं, वह यह भी जानती थी कि फ्रांसीसी होना क्या है, अतः इसके सहारे ही उसने मूर्ति का निर्माण किया और वास्त-

विकता की सृष्टि की। ज्ञात से अज्ञात को उपलब्ध करने की शक्ति, वस्तु जातों की सारी पेचीदगियों को देखने की शक्ति, नमूने को देखकर संपूर्ण वस्तु को जानना, जीवन को इस तरह अनुभव करना कि आप इसके कोने कोने को बात जान सकें, ये सब बाते जब एकत्र हों तो कहा जा सकता है कि अनुभूति हुई।

इसी प्रश्न को एक दूसरे उदाहरण के द्वारा समझने की चेष्टा की जाय। फ्रांस के प्रसिद्ध उपन्यासकार Stendhal का एक प्रसिद्ध उपन्यास है Le Ronge et le Noir इस उपन्यास की कथा कहां से मिली और उस सत्य कथा में उपन्यासकार ने क्या क्या परिवर्त्तन किये, ये बातें Stendhal के साहित्य के अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को मालूम है। यह उपन्यास तत्कालीन समाचार पत्रों मे प्रकाशित एक मुकदमे की रिपोर्ट पर आधारित है जिसको पढ़कर उस समय लोगों में पर्याप्त सनसनी फैल गई थी। मुकदमे की रिपोर्ट का सारांश यह है।

Antoine Berthet नामक नवयुवक पादरी था। वह M. Michoud व M. de. Cordon के यहां दोनों स्थानों पर बच्चों के पढ़ाने का काम करता था। परन्तु दोनों स्थानों से उसे हटना पड़ा क्योंकि उसने दोनों स्थानों पर ही वहां की नवयुवतियों को फुसला कर भगाने का प्रयत्न किया था। बाद में उसने गिरजाघरों में धार्मिक शिक्षा लेने का प्रयत्न किया, पर अपने दुर्भाग्य के कारण वह कहीं भी प्रवेश नहीं प्राप्त कर सका। उसने मन में यही सोचा कि Michoud परिवार के व्यक्तियों की बदनामी फैलाने के कारण यह बात हुई है। अतः एक दिन जब M. Michoud गिरजाघर से प्रार्थना कर लौट रही थीं तो उसने उन पर पिस्तौल दाग दी। बाद में स्वयं को भी गोली मार ली।

भाग्य से गोली घातक सिद्ध नहीं हुई। उस पर मुकदमा चला और उसे फांसी की सज़ा मिली।

इसी रिपोर्ट के आधार पर उपन्यास की इमारत खड़ी की गई है। सारे उपन्यास के रहस्य तथा आनन्द को यहां पर सम्मूर्त करना कठिन है, पर फिर भी देख लेना अनुचित न होगा कि इस सामग्री का क्या बना ? Stendhal स्वभाव से विद्रोही था, शक्ति को जीवन का वास्तविक तत्व समझता था। आन पर आकर, प्रेम के लिए जान ले लेने और दे देने को वह जीवन की चरम अभिव्यक्ति मानता था। सभ्यता के नाम पर नीरस, शांत तथा निशक्त जीवन व्यतीत करने वाले तथाकथित भद्र लोगों के प्रति उसके हृदय में आस्था के भाव न थे। अतः अपने उपन्यास के प्रधान पात्र के लिए उसने Julian नामक नवयुवक को चुना जो निम्न वर्ग का था और जिसमें, उसके मतानुसार, अभी भी कुछ जीवट बाकी था। Julian बच्चों के शिक्षक के रूप में नियुक्त होता है और बच्चों की मां Madame be Renal को फांस लेता है, प्रेम के लिए नहीं परन्तु उच्च वर्ग से प्रतिशोध लेने के लिए तथा आत्म गौरव की भावना को सन्तुष्ट करने के लिए।

पर इधर उधर कानाफूंसी होने लगती है। अतः वह एक धार्मिक शिक्षण संस्था में प्रवेश कर पुरोहिती के लिए शिक्षा प्राप्त करने लगता है। शिक्षा समाप्त कर लेने पर वह Marquis de la Mole नामक किसी प्रतिष्ठित रईस के सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त हो जाता है और इस तरह वह उच्च वर्ग में प्रतिष्ठित होता है। यह घटना निम्न वर्ग का उच्च वर्ग के अभेद्य दुर्ग में प्रवेश का प्रतीक है। यहां पर भी वह अपने स्वामी

की पुत्री की प्रणयोपलब्धि में समर्थ होता है। Mathulde भी मनस्विनी, आत्मकेन्द्रित तथा असाधारण चित्तवृत्ति की है और किसी सिद्धांत एवं मत के बन्धन को रौंद कर नियति के पथ पर अपने पैरों से चलने वाली लड़की है। इन दोनों में जो चोटें चलती हैं वे प्रेम की हैं या घृणा की यह कहना कठिन है। दोनों एक दूसरे पर अधिकार करना, नीचा दिखाना या दबाना चाहते हैं। अन्त में Mathulde गर्भवती हो जाती है। अतः उसे झुकना ही पड़ता है। वह पिता से कहती है और पिता को भी दोनों के विवाह के लिए सम्मति देनी ही पड़ती है।

पर जब सफलता दीखने लगती है उसी समय Julian एक ऐसी गलती करता है कि सारी बातें ही उलट पुलट हो जाती है। वह अपने भावी श्वसुर महोदय से प्रार्थना करता है कि Madame de Renal से जिसके बच्चों को वह पहले पढ़ाता था और जिससे उसके प्रेम सम्बन्ध भी रहे थे, उसके चरित्र का प्रमाण-पत्र ले लिया जाय। प्रमाण-पत्र जो मिलता है वह इतना ध्वंशक और वीभत्स है कि M. de la Mole स्तंभित रह जाते हैं और इस विवाह के प्रस्ताव को एक दम अस्वीकृत कर देते हैं। Julian चाहता तो अपनी स्थिति को सुधार सकता था और अनेक प्रमाणों के द्वारा अपनी निर्दोषिता सिद्ध कर सकता था और M. de la Mole भी दुनियादार आदमी थे, उसे मान लेते। पर जुलियन ऐसा कुछ नहीं करता। करता क्या है कि पिस्तौल लेता है और २५० मील की दूरी पर स्थित Verrieres नामक स्थान पर जाता है जहां Madame de Renal रहती है और उसे गोली मार कर घायल कर देता है।

ऊपर हेनरी जेम्स और Stendhal दो उपन्यास कारों की उपजीव्य-

रुपेण गृहीत कथा का उदाहरण दिया गया है। मेरे जानते जहां तक प्रकृत वस्तु की मौलिक प्रकृति का सम्बन्ध है Stendhal की उपजीव्य-कथा अधिक मनोवैज्ञानिक है। अधिक मनोवैज्ञानिक कहने का यह अर्थ नहीं कि हेनरी जेम्स की आधारभूत कथा मनोवैज्ञानिक नहीं है। मेरा मतलब केवल यही है कि Stendhal की कथा ऐसी लगती है कि मानो उसके पात्र अधिक आदिम ढंग से व्यवहार कर रहे हों, उनका Id उनके Ego के नियंत्रण को ठीक से नहीं मानता। नहीं तो जुलियन ने अपने चरित्र सम्बन्धी प्रमाण-पत्र मंगवाने की जो भूल की है वैसी गलती कभी नहीं करता। हो न हो वह किसी अचेतन शक्ति के द्वारा प्रेरित है। यदि कथाकार की कल्पना में थोड़ी अधिक सक्रियता होती तो एक बहुत ही सुन्दर मनोवैज्ञानिक उपन्यास की रचना हो सकती थी। दोनों रचनाओं को आमने सामने रख कर देखने से एक और भी बात स्पष्ट होती है कि Stendhal की कल्पना ने कथा में जोड़ तोड़ की तो है पर बहुत ही कम यहां तक कि सारे उपन्यास में वास्तविक घटनाओं की ही छाया मंडराती नज़र आती है।

हेनरी जेम्स की रचना में भले ही कोई ऐसी बात न हो जिसमें किसी अचेतन शक्ति की प्रेरणा की गंध आये, पर जो कुछ भी कहा गया है, मानसिक आघात-प्रतिघात के दृश्य उपस्थित किये गये हैं उनका विस्तृत तथा संगत विवरण दिया गया है। साथ में कल्पना ने मौलिक कथा के रूप की काया पलट कर दी है। हमें प्राचीन दंत-कथाओं में रूप-परावर्त-गुटिका की बात पढ़ने को मिलती हैं। किसी के पास ऐसी गुटिका होती है जिसके एक कण को खाते ही मनुष्य कुछ का कुछ हो जाता है, नर पशु हो जाय, पशु नर। यही रूप-परावर्त-गुटिका उपन्यासकार की सृजनात्मक

कल्पना में होती है। वह जरा सा सहारा पाकर कुछ का कुछ बना दे सकती है। यही कारण है कि जहां उपन्यास की सृजनात्मक कला का प्रश्न उठता है आलोचकों का वोट हेनरी जेम्स के साथ होता है।

उपन्यास की प्रवृत्ति

विश्व में वरेण्य श्रेणी के जितने उपन्यास हैं उनके पढ़ने से हम एक ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इनमें परस्पर विरोधी दो शक्तियों की समान बल, तनाव तथा संतुलन की अवस्थिति अनिवार्य है। व्यावहारिक दृष्टि से विश्व में दो विपरीत शक्तियां कार्य करती रहती हैं, स्थूल, सूक्ष्म, केन्द्रानुगामी, केन्द्रापगामी, जीवन-मरण, उत्थान पतन, व्यक्ति, समाज। इन दोनों में सदा संघर्ष चला करता है, एक दूसरे पर हावी होना चाहता है। पर इतिहास ने कभी भी ऐसा युग नहीं देखा है जिसमें एक ने दूसरे को नेश्तोनाबूद कर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लिया हो। इन दोनों के संघर्ष में ही जीवन अपने सच्चे स्वरूप की उपलब्धि प्राप्त करता है। सांप कुछ आगे चलता है और पीछे मुड़ता है और इसी टेढ़े मेढ़े तरीके से शक्ति ग्रहण करता हुआ आगे बढ़ता है। इस तरह की समस्या भी उपन्यास-कला के सामने सदा रही है।

उपन्यास को भी दोनों शक्तियों के सक्रिय स्वरूप के पृथकत्व को बनाये रखना पड़ता है, वह आरोपित रूप तो दिखला सकता है, पर साध्यावसान की सीमा तक नहीं जा सकता। साथ ही उसे एक ऐसे Structure का निर्माण करना पड़ता है जिसके क्रोड़ में इन दोनों की संतुलित अवस्थिति संभव हो सके। कला का काम वस्तु की स्पष्ट अनुकृति करना नहीं है। जो कलाकृति अपने कलात्मक स्वरूप की रक्षा

न कर सके और प्रकृत वस्तु के प्रति आत्म-समर्पण कर दे, वह कला का निकृष्ट उदाहरण है। आप किसी के यहां गये, वहां पर एक चित्र है। एक महिला बड़े ही आकर्षक ढंग से अधरों पर मुस्कान लिए हुए आपका स्वागत कर रही है। चित्र इतना सजीव है कि आप कड़ी परीक्षा में पड़ जाएं और अपने व्यवहार का स्वरूप निश्चित करने के लिए इधर उधर बगलें झांकने लगें, तो वह कला का उत्तम उदाहरण नहीं कहा जायेगा। कला सदा कला-वस्तु और प्रकृत-वस्तु का अन्तर बनाये रख कर ही भावात्मक साहश्य का ज्ञान कराती है और अपने प्रति कलात्मक ढंग से प्रतिक्रिया करने के लिए प्रेरित करती है।

कल्पना कीजिए कि आप रंगमंच पर अभिनय देखने के लिए या सिनेमा देखने के लिए गये। एक क्रूर व्यक्ति एक निरीह बालिका पर अत्याचार कर रहा है। उसकी क्रूरता पर आप इस तरह उत्तेजित हो गये कि आप स्टेज पर जूता चला बैठे। क्या वह अभिनय सफल कहा जायेगा? नहीं, कला से हम केवल तन्मयीभवन योग्यता की ही अपेक्षा करते हैं, तत्प्रतिसक्रियीभवन की नहीं। अन्यथा करुण-रस का काव्य पढ़ कर, उदाहरणार्थ अभिमन्यु के निधन पर उत्तरा का विलाप पढ़ कर, हम भी उत्तरा की तरह ही शोकपूर्ण हो जाएं तो काव्य को कौन पढ़ेगा? Emotion remembered in Tranqulity अर्थात् कवि की काव्यानुभूति.पाठक की रसानुभूति की जननी होती है। अतः काव्य में होती तो है प्रत्यक्षानुभूति ही, पर वह रसानुभूति प्रसवा के रूप में दिखलाई पड़ती है अर्थात् उसमें न तो विशुद्ध प्रकृति ही है न विशुद्ध कला, न विशुद्ध प्रत्यक्ष ही है न विशुद्ध रस ही, पर उसमें रसोन्मुख प्रत्यक्ष है। रस प्रत्यक्ष में प्रलम्बित तथा प्रत्यक्ष रस में प्रोक्षेपित रहता

है। इस तरह दो विपरीत वस्तुओं का प्रलम्बित तथा प्रोक्षेपित रूप को एक structure के अन्दर सानुपातिक ढंग से ला बिठाना उपन्यास का लक्ष्य है। उपन्यास में प्रायः व्यक्ति और समाज की समस्या रहती है पर अपनी सत्ता की रक्षा करते हुए भी दोनों परिवर्तित हो जाते हैं।

हम यहां ऐतिहासिक उपन्यास की चर्चा कर रहे हैं। अतः इसी के terms में समस्या पर विचार करें। जिस उपन्यास को पढ़ कर यह धारणा बंधे कि इसके पात्र केवल इतिहास के सहारे ही जी रहे हैं, उनका वैयक्तिक जीवन है ही नहीं, मानवता के उच्च शिखर से उतर कर ऐतिहासिकता की सतह पर गिर गये हैं, जिनकी आत्मनिष्ठता, स्वतंत्रता ऐतिहासिक संस्थाओं, घटनाओं, वर्ग तथा अर्थ की सीमा में जकड़ दी गई हो, वह उपन्यास असफल कहा जा सकता है। यदि अकबर और शिवाजी, तथा नेपोलियन के ऐतिह सिक वृत्त पर उनके व्यक्तित्व का बलिदान कर दिया गया तो उपन्यास के लिये रह हा क्या गया ?

अतः उपन्यास में व्यक्ति और समाज दोनों की अवस्थिति अनिवार्य है। व्यक्तित्व की प्रमुखता उपन्यास को गीति या हृदयोद्गारों का रूप दे देगी। यदि उसके सामाजिक पहलू पर ही जोर दिया गया तो वह सूखा इतिवृत्त या इतिहास का रूप धारण कर लेगा। यह बात ऐतिहासिक पात्रों के नाम को लेकर चलने वाले उपन्यासों पर ही लागू नहीं होता। पात्र भले ही काल्पनिक हों पर उनकी सामाजिकता पर अत्यधिक जोर देने वाले उपन्यासों पर भी लागू है। प्रेमचन्द की कलात्मक प्रतिभा ने तो किसी तरह व्यक्ति और समाज के सानुपातिक संतुलन को खोने नहीं दिया है; हालां कि कर्मभूमि, और

प्रेमाश्रम में कहीं-कहीं पैर डगमग अवश्य होते हैं। पर देश-विभाजन, अकाल, समाज के नैतिक पतन तथा स्वातन्त्र्य-प्राप्ति-जनित समस्याओं को लेकर लिखे गये अधिकांश उपन्यासों में तो मानवता सामाजिकता की सतह पर आ गई है, Human being केवल Social being रह गया है।

अतः उपन्यास में एक ओर कविता की सीमा में पहुंचने की तथा दूसरी ओर इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश करने की स्वाभाविक प्रेरणा होती है।

साहित्य और प्लेटो

यूरोपीय साहित्य के इतिहास को मुख्यतः तीन चार विभागों में विभाजित किया जाता है, प्राचीन, मध्यकालीन, पुनर्जागरण तथा आधुनिक। यों तो विभाजन के कितने ही अन्य रूप हो सकते हैं और अनेक विचारकों ने अन्य ढंग से विवेचन भी किया है पर हमारे लिए विभाजन के इसी आधार का सहारा लेना उचित होगा क्यों कि हम लाँगिनस के साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं की चर्चा कर रहे हैं और लाँगिनस को प्राचीन काल के साहित्य विवेचकों में ही हम रख सकते हैं। लेखक जितना ही प्राचीन हो, उसके जीवन के सम्बन्ध में, उसकी रचनाओं के सम्बन्ध में उतनी ही ठोस और तथ्य-पूर्ण ज्ञान की कमी होती है, उसके तिथि-निर्णय की समस्या उतनी ही कठिन होती है तथा उसकी रचनाओं की प्रामाणिकता उतनी ही संदिग्ध होती है। इस बात का कटु अनुभव भारतीय साहित्य के अध्येता से अधिक किस को होगा? ऐसा लगता है कि रचनाओं का अधूरापन, उसमें क्षेपकों का समावेश, तिथि-निर्णय की उलझन आदि ही उनकी प्राचीनता की कसौटी हो।

इस कसौटी पर लांगिनस और उसकी रचना On sublime अच्छी तरह खरी उतरती है। प्रथमतः तो उसकी एक ही रचना प्राप्त है On sublime। द्वितीयतः कि वह भी अधूरी है, पूरी नहीं। पढने से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि बीच-बीच में टूट है, बातें छूट सी गई हैं। असंभव नहीं लेखक ने रचना तो की है पूर्ण रूप में ही परन्तु समय के प्रवाह में बहुत अंश नष्ट हो गया हो और उनकी सुरक्षा संभव नहीं हो सकी हो। पुस्तक में व्यक्त विचारों की दिव्यता, उच्चता, उसका पाण्डित्य, ज्ञान-प्रखरता तथा प्रतिपादन की गम्भीरता ने क्षेपकों को आने न दिया हो। रह गई लेखक के तिथि-निर्णय की बात। इसके लिए तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि लांगिनस को 300 B.C. से लेकर 300 A.D. तक कहीं भी रखा जा सकता है। ठीक कालिदास वाली बात समझ लीजिये!

लांगिनस के पूर्व प्लेटो और आरिस्टोटल नामक दो विद्वानों ने साहित्य के सम्बन्ध में अपने विचार उपस्थित किये थे। प्लेटों के विचार डायलोज़ में सुरक्षित हैं तथा अरिस्टोटल के Poetics में। दोनों ने साहित्य पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया था तथा साहित्य से दो प्रश्न किये थे। विचारक की पहली समस्या यह है कि वह सम्यक् प्रश्न हो, अर्थात् वह ज्ञातव्य वस्तु से ठीक तरह से, ठीक ढंग से सम्पक प्रश्न कर सके। उदाहरण के लिए हमें मनुष्य पर विचार करना है। पर हम किस ढंग से विचार करें? मनुष्य के तो अनेक रूप होते हैं। उसके चेतन मस्तिष्क को लेते हैं तो वह मनोविज्ञान का विषय हो जाता है। यदि उसे पशु मात्र समझें तो वह प्राणिशास्त्र का जीव हो जाता है। प्राकृतिक वस्तु के रूप में वह भौतिक शास्त्र का अंग है, नैतिकता उसे सदाचारशास्त्र (ethics) के क्षेत्र में ला बैठायेगी और यदि हम उसे दुखान्त नाटक के अभिनेता के

रूप में देखें तो वह साहित्य शास्त्र या अलंकार शास्त्र का विषय हो जाता है, जिसे अंग्रेजी में Poetics कहते हैं।

प्लेटो ने काव्य को एक बहुत ही व्यापक पृष्ठभूमि में, अन्य संदर्भों के साथ मिला कर, देखने का प्रयत्न किया। वे मूलतः दार्शनिक थे और उनका आविर्भाव उस समय (427-347 B. C.) में हुआ था जिस समय Peloponnesian war में Athens, Sparta के हाथों पराजित हो चुका था। कुछ ही दिन पहले Athens की प्रजातन्त्री सरकार ने सुकरात (470-339 B.C.) को, इस अपराध के लिए जहर देकर मार डाला था, कि वे लोगों को सत्य के सच्चे स्वरूप को पहचानने के लिए प्रेरित करते थे और उनकी वर्तमान मान्यताओं के खोखलेपन का रहस्योद्घाटन करते थे। अतः उनके चिन्तन-परक व्यक्तित्व ने उन्हें इस पतन के कारण ढूंढने तथा इस रोग को दूर करने की दवा का आविष्कार करने की ओर प्रेरित किया।

अन्त में चल कर प्लेटो को पता चला कि इन सब विषमताओं के मूल में तत्कालीन प्रजातन्त्री राज-व्यवस्था है। आज के कवि की तरह वे भी इसी नतीजे पर पहुंचे कि जम्हूरियत एक तर्जे हुकूमत है कि जिसमें, बन्दे को गिना करते हैं, तोला नहीं करते। प्रजातंत्री सरकार मूर्खों की सरकार है, जिसे वास्तविकता के सच्चे स्वरूप को पहचानने की शक्ति नहीं होती। अतः प्लेटो के सामने यह प्रश्न था, कि सरकार का सच्चा स्वरूप क्या होना चाहिये ! नियम और कानून किस तरह के हों !! नागरिकों के आचार विचार किस तरह के हों !!! ये व्यावहारिक प्रश्न हैं। इन पर ही विचार करते समय कविता का प्रश्न छिड़ गया है। अतः उत्तर जो बन पड़ा है उस पर उस व्यापक प्रश्न की छाया पड़ी है, जिसका यह व्याप्य

है । अर्थात् कविता व्याप्य है ! गौण है !! by the way आ गई है !!! व्यापक प्रश्न तो दूसरा ही है । यही कारण है कविता के सम्बन्ध में प्लेटो ने जो विचार दिये हैं उनमें सर्वत्र एकरूपता ही हो, ऐसी बात नहीं, वे परस्पर विरोधी भी लग सकते हैं। किसी एक प्रसंग में प्लेटो ने कविता के बारे में जो विचार प्रगट किये हैं उन्हें ही साहित्य-सम्बन्धी मुख्य सिद्धांत मानकर चलना भ्रामक है और एक सही चीज को गलत ढंग से उपस्थित करना है।

दर्शन जब व्यवहार के क्षेत्र में प्रवेश करता है, तो वही परिणाम होता है, जो प्लेटो के काव्य-संबंधी विचारों का हुआ है । दार्शनिक का ध्येय यह होता है कि वह ज्ञातव्य विषय को एक व्यापक स्कीम के संदर्भ में रखकर विचार करे। प्लेटो के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि सत्य क्या है ! किसी वस्तु का सच्चा स्वरूप क्या है !! मानव की किसी भी क्रिया, व्यवसाय या व्यापार के लिये उनके हृदय में तभी तक महत्त्व था, जब तक वह सत्य के स्वरूपान्वेषण में सहायक है। प्लेटो के विचार जिस पुस्तक में सुरक्षित हैं उसे डायलॉग्स (Dialogues) कहते हैं। डायलॉग्स का अर्थ है वार्तालाप । प्लेटो के डायलॉग्स में कुछ व्यक्ति किसी विशेष विषय के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करते हैं, उसके पक्ष तथा विपक्ष में तर्क-वितर्क करते हैं, कोई खण्डन में प्रवृत्त होता है, कोई मण्डन में। इन वार्तालापों का प्रमुख पात्र सुकरात है, जो क्रमशः अपने उचित प्रश्नों के द्वारा ज्ञातव्य बिषय के स्वरूप की ओर लोगों का ध्यान केन्द्रित करता है और अन्त में एक सर्वसम्मत परिभाषा के निर्माण में सफल होता हैं।

इन वार्तालापों की संख्या २७ है। इन वार्तालापों में सर्व-प्रमुख वार्तालाप का नाम प्रजातन्त्र (Republic) है जिसमें न्याय के सच्चे

स्वरूप के पहचानने की चेष्टा की गई है। Symposium नामक वार्तालाप में प्रेम के सत्स्वरूप पर विचार किया गया है। किसी वार्तालाप में साहस, तो किसी में आत्म संयम तो किसी में temperence का प्रश्न उठाया गया है। इन वार्तालापों का स्तर सदा एकसा ही हो, यह भी कोई आवश्यक नहीं। नाटकीयता तथा दार्शनिक गम्भीरता की दृष्टि से इनमें महान अन्तर है। कुछ वार्तालापों की अवतारणा गम्भीर वातावरण में अवश्य हुई है। ऐसा लगता कि गुरु अपने शिष्य-प्रशिष्यों के साथ सरस्वती मन्दिर में बैठकर किसी तात्विक चिन्तन में मग्न हो। कुछ वार्तालापों में चाय-पान का वातावरण है, जिसमें Over a cup of tea किसी चीज को discuss किया जाता है। चाय की घूंट भी है, हंसी मजाक भी चल रहा है पर विषय की गम्भीरता भी बनी हुई है। कुछ वार्तालापों में केवल कुछ विचारोत्तेजक सामग्री भर है। कुछ में केवल वाक्चातुरी दिखाकर दूसरे के विचारों के खोखलेपन को दिखलाया गया है। कहने का अर्थ यह है कि इसमें सब तरह का वातावरण मिलेगा, हल्का से हल्का और गम्भीर से गम्भीर। अणोरणीयान् महतो महीयान्।

इन वार्तालापों के मध्य अनेक अवसर आये हैं जहां प्रसंगानुरोध से कविता के संबंध में विचार उपस्थित किया गया है। परन्तु सारे वातावरण में यत्र-तत्र प्रकीर्ण कविता-संबंधी उक्तियों तथा विचारों को एकत्र कर देने से ही प्लेटो के काव्य-शास्त्र का स्वरूप खड़ा नहीं हो सकेगा। ज्यादा से ज्यादा यही होगा कि परस्पर-विरोधी वैषम्यपूर्ण वक्तव्यों की पलटन खड़ी हो जाय। कारण कि प्लेटो के तर्क की आधारभूमि सदा बदलती रही है। अनेक विविध प्रसंगों के बीच में कविता का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है और परिस्थिति की तात्कालिकता की जितनी मांग हुई है उसे ही पूरी

कर वह आगे बढ़ कर अपने मुख्य विषय पर आ गया है । उदाहरणार्थ कविता की बात मुख्यतः चार वार्तालापों के प्रसंग में आई है। Republic, Laws, Phaedrus तथा Ion में। इन सब प्रसंगों में अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए जीवन के भिन्न भिन्न स्तरों से उपमायें देनी पड़ी हैं, उनके मेल में लाकर ज्ञातव्य वस्तु के स्वरूप को खोलने की चेष्टा की गई है। यदि हम इन उपमाओं तथा वक्तव्यों को प्रासंगिक परिस्थिति से तोड़ कर ले उड़ें, तो हमारे हाथ जो चीज आयेगी वह अधूरी होगी, या विकृत !

Republic और Laws में कविता के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए बारम्बार राजनीतिक जीवन से उदाहरण लाये गये हैं। Phaedrus में जो उदाहरण दिये गये हैं वे अन्य कलाओं, जैसे चित्रकला, संगीतकला—के क्षेत्र के हैं। इसमें वक्तृत्व कला (Rhetoric) के क्षेत्र से उदाहरण देने का विशेष आग्रह दिखलाई पड़ता है। Ion में कविता को दैवीभावाविष्ट कवि की कृति के रूप में देखने की चेष्टा की गई है। Republic और Laws के उदाहरणों में भी अन्तर है। जहां Republic में एक आदर्श राज्य (Perfect state) की कल्पना सामने है वहां Laws में आदर्श राज्य से किंचिन्न्यून राज्य की बात हो रही है जिसकी अपनी-अपनी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विशेषतायें होती हैं। अतः एक प्रसंग विशेष में आये हुए काव्य-सम्बन्धी वक्तव्यों को झट से सामाजिक या परस्पर विरोधी कह देना ठीक नहीं। यह तो स्पष्ट ही है कि किसी विशिष्ट प्रसंग की तर्क-संगति के अनुरोध से किसी विषय का अर्धविकास ही हो सका है। तब पाठक का भी कर्तव्य हो जाता है कि वह मानस में लचीलापन लाये, एक ही बात को पकड़ कर बैठ न जाय। एक वार्तालाप से दूसरे

वार्तालाप पर जाते समय तदनुरूप अपनी मानसिक स्थिति में भी परिवर्तन कर ले।

प्लेटो के वार्तालापों की रचना के कालक्रम का ठीक ठीक पता नहीं है। यह ज्ञात नहीं कि किस वार्तालाप की रचना पहले हुई और किसकी बाद में। पर ऐसा लगता है कि ज्यों-ज्यों प्लेटो का आग्रह सत्य के स्वरूप की ज्ञानोपलब्धि के लिए बढ़ता गया है त्यों-त्यों वे कविता तथा कल्पनाशील साहित्य के प्रति कठिन पड़ने लगे हैं। Symposium में उन्होंने कवि को देश से नहीं निकाला है। Ion और Phaedrus तक उन्होंने कवि तथा उसके महत्त्व को स्वीकार किया ही है। हाँ, कविता की वकालत स्पष्ट शब्दों में नहीं की है पर उसकी स्थिति को स्वीकार अवश्य किया है। आदिम अवस्था में जिस समय मनुष्य ने सार्थक शब्दों का उच्चारण किया होगा, उस समय प्रत्येक शब्द ही काव्यमय था, रूपकमय था! उस समय सवाक् मनुष्य कवि था, क्योंकि शब्दों का प्रयोग ही वस्तुओं के अनधिगम्य सम्बन्ध को जताने तथा उस ज्ञान को कायम रखने के लिए किया जाता था। परन्तु काल-प्रवाह में पड़कर शब्दों और वस्तुओं के इस सम्बन्ध में ह्रास होने लगा, लोग इसे भूलने लगे।

जब ऐसी परिस्थिति आने लगती है तो समय-समय पर कवि का अवतार होता है जो इस पार्थक्य को दूर करता है और शब्द तथा अर्थ में संतुलन स्थापित करता है। कुछ इसी तरह के विचार शैली ने भी प्रगट किये हैं। परन्तु शैली ने जिस आदिम युग की कल्पना की है, उस समय प्रत्येक व्यक्ति ही कवि था, उस समय शब्द और अर्थ भिन्न नहीं थे, उस समय वाह्य वस्तु ही मानो शब्दों के रूप में ढल जाती थी, जिस तरह

आज हम किसी बाह्य ठोस वस्तु को electric waves में, अथवा Electric waves को sound waves में परिणत कर सकते हैं। पर बाद में शब्द और अर्थ में पार्थक्य आने लगा। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया शब्द अर्थ से अलग होते गये। पहले जो कुछ शब्दों के द्वारा उच्चरित होता था वही सत्य होता था। पर अब ऐसा लगने लगा कि शब्द सत्य की अभिव्यक्ति नहीं भी कर सकते हैं। कवि-कल्पना के शब्द सत्य के वाहक होते हैं, इसमें आदिम युग के मानव के लिए सहज विश्वास कर लेना सहज था। पर अब सभ्य मानव के लिए ऐसा-वैसा विश्वास सहज नहीं रह गया। अतः विचारकों तथा आलोचकों को प्रयत्न करके कवि के इस स्वरूप को पुनः प्राप्त करना पड़ा।

इसके लिए एक ही उपाय था कि कवि को तथा उसके कल्पनाप्रसूत साहित्य को साधारण जीवन की सतह से हटा कर दूर रखा जाय। कवि जब तक अन्य साधारण व्यक्तियों की सतह पर रहता है तभी तक हम उस पर साधारण मापदण्ड के अनुसार विचार कर सकते हैं। जब वह कुछ करता है तो उसका हाथ पकड़ सकते हैं। जब वह बोलता है तो उसकी जीभ पकड़ सकते हैं। पर यदि वह दूसरे लोक का प्राणी हो जाता है, या इस लोक में रहते हुए भी किसी विशिष्ट वर्ग का व्यक्ति बन जाता है तो हमें उस पर विचार करते समय सतर्क रहना पड़ेगा। अतः उसे तीन रूपों में देखा गया।

१. आविष्ट रूप में।

२. सूक्ष्म दृष्टि-सम्पन्न रूप में।

३. साधारण व्यक्ति के रूप में ही, पर ऐसा व्यक्ति जिसमें साधारण बातों को ही सजीव रूप में उपस्थित करने की शक्ति हो।

प्लेटो ने एक स्थान पर कवि को आविष्ट व्यक्ति के रूप में देखने के लिए संस्तुति की है। उस युग में Oracle की प्रथा प्रचलित थी। कुछ लोग दैवी भावों से आविष्ट समझे जाते थे। उनका शरीर तो साधारण व्यक्ति का सा ही रहता था पर समझा यह जाता था कि उनके अन्दर किसी देवता का निवास है। यदि स्थायी रूप से निवास नहीं है तो किसी अवसर विशेष पर वह उस शरीर पर अधिकार कर लेता है। ऐसे समय पर वह जो कुछ कहता है वह उस दैवी आत्मा की वाणी होती है। उसी तरह कवि भी आविष्टात्मा होता है, उस पर सरस्वती, Muse नामक देवी की सवारी रहती है और वह एक दैवी उन्माद के वशीभूत हो अपने काव्य की रचना करता है।

कवि और कविता के सम्बन्ध में इस तरह के विचार आज भी किसी न किसी तरह वर्तमान है। शैक्सपियर ने पागल, प्रेमी तथा कवि को कल्पना-जगत का निवासी कह कर, उन्हें एक ही श्रेणी में रखा 'The lunatic, the lover and the poet, Are of imagination all compact. Dryden ने अपनी पुस्तक Absalom and Achitophel में प्लेटो से दो हजार वर्ष पश्चात् "Great wits are sure to madness near allied" कह कर इसी सिद्धान्त की पुष्टि की थी। आज तो मनोविश्लेषण का संकेत पाकर कुछ लोग, कला (Art) तथा मनोविकार का सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हैं और कहते हैं कि कला का जन्म ही विकार-ग्रस्त मानस में होता है।

कहा जाता है कि फ्रांस के प्रसिद्ध उपन्यासकार जोला ने १५ मनो-

विश्लेषणवादियों (psychiatrist) से अपना विश्लेषण कराया और इस परिणाम पर पहुंचा कि उसकी प्रतिभा का मूल तत्व उसके व्यक्तित्व के विकृत अंशों में हैं। उसी तरह Baudelaire, Rimband, Verlaine इत्यादि ने भी अपने कृतित्व का श्रेय अपने शारीरिक तथा मानसिक रुग्णता तथा पीड़ा को दिया है। यहां तक कि लोगों का विश्वास हो गया है कि बिना किसी अभाव के प्रतिभा जागरित ही नहीं होती। Edmand Wilson ने तो कलाकार के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए "घाव और धनुष" ऐसे वाक्यांश का ही आविष्कार किया है और Philoctetes की मूर्ति सामने रखी है। Philoctetes एक ग्रीक सैनिक का नाम था जिसके शरीर में घाव था, वह सदा बहता रहता था, उसमें से मवाद निकला करती थी। इतनी दुर्गन्ध निकला करती थी कि उसे सब लोगों से अलग दूर रहना पड़ता था। परन्तु उसके पास रामबाण की तरह अमोघ धनुष था। अतः लोग सदा उसका आदर भी करते थे। अतः कलाकार मनसा रुग्ण व्यक्ति है, परन्तु उस रुग्णता से ही दिव्य कृतियां उत्पन्न होती हैं। ऐसी कुछ लोगों की धारणा है कि कमल कीचड़ से ही पैदा होता है। इसलिए कीचड़ का भी महत्त्व हम मन ही मन स्वीकार करते हैं।

प्राचीन पाश्चात्य साहित्य के इतिहास में, प्लेटो के Ion नामक वार्तालाप में ही, कवि के इस असाधारण, दैव-प्रेरित, दिव्य-भावापन्न रूप का सर्व प्रथम विस्तृत और गंभीर विवेचन मिलता है। अतः उसे देख लेना हमारे लिये उपयोगी होगा। इससे पता चलेगा कि कवि के प्रति लोगों का क्या दृष्टिकोण था।

सुकरात, वार्तालाप के दौरान में Ion से कहते हैं "जो वरदान आप

को प्राप्त है, वह कला नहीं, परन्तु जैसा मैं अभी निवेदन कर रहा था, प्रेरणा है। कोई दैवी शक्ति आपको संचालित कर रही है ठीक उसी तरह की शक्ति जो उस पत्थर में रहती है जिसे Euripides चुम्बक के नाम से पुकारते हैं और जिसे साधारणतः Heraclea का पत्थर कहा जाता है। यह पत्थर लोहे के छल्लों को अपनी ओर खींचता हो इतनी ही बात नहीं परन्तु इन छल्लों में भी ऐसी शक्ति भर देता है कि वह लोहे के दूसरे छल्लों को अपनी ओर खींच सके। आपने देखा होगा कि कभी-कभी लोहे के छल्ले आपस में इस तरह आबद्ध-हो झूलने लगते हैं कि उनकी एक शृंखला ही बन जाती है। इन सब लोहे के छल्लों में परस्पर खींचने की शक्ति उसी मूल-पत्थर से प्राप्त होती है। ठीक इसी तरह Muse नामक देवी स्वयं व्यक्तियों को प्रेरणा-प्रदान करती है और इन प्रेरित तथा स्फूर्त व्यक्तियों से लगकर अन्य व्यक्तियों की एक शृंखला लटकी रहती है जो उन्हीं से (अर्थात् मूल प्रेरित व्यक्तियों से) प्रेरणा प्राप्त करते हैं। कारण कि जितने अच्छे कवि हुए हैं, महाकाव्य अथवा गीति-काव्य के रचियता, उन्होंने अपनी सुन्दर कविताओं की रचना कला के सहारे नहीं की है परन्तु इसलिए की है कि वे प्रेरित थे, आविष्ट थे !

जिस तरह आनन्दोत्सव के अवसर पर नाचने वाले Corybantian की मानसिक स्थिति ठीक नहीं रहती (वह उन्माद की दशा में आ जाता है) उसी तरह अपनी सुन्दर कविताओं के सृजन के क्षणों में गीति-कवियों की भी मानसिक अवस्था ठीक नहीं रहती। परन्तु संगीत और छन्दों के प्रभाव में आकर वे प्रेरित तथा आविष्ट हो जाते हैं। Bacchic कुमा-रिकाओं की तरह जो जब तक Dionysus के प्रभाव में रहती हैं तब तक नदियों से दुग्ध और मधुधारा का संचय करती हैं, पर जब उनका

मानस प्रकृत अवस्था में रहता है, तब नहीं! गीति-कवि भी वही करता है जैसा कि वे स्वयं स्वीकार करते हैं। उनकी ही बातों से प्रमाणित होता है कि वे Muse की वाटिकाओं तथा निवास स्थान को चुन-चुन कर मधु-धारा-पूर्ण झरनों से अपने गीतों को संचित करते हैं। भ्रमर की तरह एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर उड़कर। यह ठीक भी है, क्योंकि कवि पर किसी तरह का भार नहीं होता, उसके पर होते हैं, वह पवित्रात्मा है और जब तक वह प्रेरित न हो! साधारण बुद्धि का साथ न छोड़ दे!! उसका मानसिक संतुलन न बिगड़ जाय, उसमें किसी तरह की आविष्करण शक्ति नहीं आती!!!

जब तक वह इस अवस्था को प्राप्त नहीं हो जाता, वह निशक्त प्राणी है और अपनी सिद्ध वाणियों का उच्चार नहीं कर सकता। कवियों की कलम से मनुष्य के व्यापारों के सम्बन्ध में अनेक द्विव्य वाणी निस्सृत हुई हैं लेकिन जिस तरह आप होमर के सम्बन्ध में कुछ बातें करते हैं तो कला का आश्रय लेते हैं, उसी तरह कवि-गण नहीं करते। वे केवल इतना ही करते हैं कि Muse ने उन्हें जिस तरह प्रवृत्त किया है उसी के उच्चार के लिए वे प्रेरित होते हैं। बस और कुछ नहीं! जब प्रेरणा आती है तो वह भिन्न भिन्न कवियों में भिन्न रूप में प्रकट होती है—कोई Dithy-ramb की रचना करता है, कोई देवताओं की स्तुति करता है, कोई सामूहिक रूप से गाये जाने वाले गीतों की रचना करता है, कोई महा-काव्य की, तो कोई Iambic छन्दों की! जो एक तरह की रचना में प्रवीण है वह दूसरी ररह की रचनाओं में प्रवीण नहीं होता, क्योंकि कवि के गीत कला के द्वारा नहीं दैवी शक्ति की प्रेरणा से उच्चरित होते हैं। यदि कला के नियमों के द्वारा उसने शिक्षा प्राप्त की होती तो वह एक

ही विषय नहीं सब विषयों पर कह सकता था। अतः ईश्वर सर्व प्रथम कवियों के मस्तिष्क का अपहरण कर लेता है और अपने मन्त्री के रूप में उनका प्रयोग करता है ताकि इन बहुमूल्य प्रवचनों का उच्चार करने वालों की दिव्यवाणी को सुनकर लोग यह न समझ लें कि वे स्वयं बोल रहे हैं परन्तु यह समझें, कि वक्ता स्वयं भगवान् है और इन लोगों के माध्यम से हमारे साथ वार्तालाप कर रहा है।

मेरे कथन का सबसे आकर्षक उदाहरण Tynnichus the Chalcidian है। उसने केवल देव-स्तुति-परक रचना ही की जो आज सब की जीभ पर नाचती है, आज तक की लिखी सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में जिसकी गणना होती है और जिसके बारे में वह स्वयं कहता है कि वह Muse का एक आविष्कार मात्र है। इसके सिवा उसने कुछ भी नहीं लिखा जिसे लोग याद रखने की परवाह करें। ऐसा लगता है कि इसी तरीके से हमें याद दिलाता रहता है कि हम भूलें नहीं कि ये कवितायें मानवी नहीं दैवी शक्ति की उपज हैं, ईश्वरीय रचना है, कि कवि आविष्ट प्राणी तथा देवताओं का दुभाषिया मात्र है। जब एक निष्कृष्ट कवि के मुख से ईश्वर ने सर्व श्रेष्ठ गीत का उच्चार कराया तो क्या इससे पता नहीं चलता कि कवि को वह दैव प्रेरित व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता था।

इन पंक्तियों का अर्थ स्पष्ट है। प्लेटो कवि की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते। वे इस बात को नहीं मानते कि कवि का कोई अपना व्यक्तित्व होता है, केवल कवि होने के नाते वह हमारे आदर का पात्र हो नहीं सकता है कवि का जो कुछ महत्त्व हैं वह इसलिए है कि वह ईश्वर के हाथ की निर्जीव निष्क्रिय कठपुतली मात्र है जिसके द्वारा वह

मानवता तक अपना दिव्य संदेश पहुंचाना चाहता है। मतलब यह कि कवि स्वतःपूर्ण नहीं है। उस पर विचार करने के लिए हमें उसे पूरी मानवता के संदर्भ में रख कर देखना होगा। देखना होगा कि मानवता का हित किस तरह के विचारों तथा सिद्धान्तों के द्वारा हो सकता है, किस तरह के सिद्धान्त उसे उन्नत पथ की ओर ले जा सकते हैं।

समाज की उन्नति क्या है। इस बात की स्पष्ट रूपरेखा प्लेटो के मस्तिष्क में पहले से ही वर्तमान थी। वे जानते थे कि इन्हीं बातों का अनुकरण कर समाज का सांस्कृतिक उत्थान हो सकता है। वे प्रजातन्त्र की असफलता देख चुके थे। प्रजातन्त्र की अतत्परता, शिथिलता तथा असमर्थता के कारण किस तरह Athens को Sparta के हाथों बुरी तरह पराजित होना पड़ा था, इस बात की स्मृति उनके मस्तिष्क पर ताजी थी। उन्हीं की आंखों के सामने सुकरात जैसे मनीषी को जहर दिया जा चुका था यह बात भी वे भूले नहीं थे, अतः प्लेटो तात्कालिक समाज के गुण-दोषों से परिचित थे और जानते थे कि समाज की उन्नति किस तरह हो सकती है। जिस पथ का अवलम्बन लेकर समाज उन्नत होगा वही उनका अनुमोदित पथ भी होगा। जिन तथा-कथित कवियों की वाणी में इस पथ को अपनाने की प्रेरणा नहीं होगी अथवा जिनकी वाणी लोगों को इस पथ से च्युत करेगी वे कवि की प्रतिष्ठा के अधिकारी नहीं होंगे।

अतः कवि को प्लेटो की मान्यताओं का, मन्तव्यों का, धारणाओं का, समर्थन करना ही होगा। ऐसा लगता है कि प्लेटो ने मानों अपने ज्ञान की आंखों से विश्व के सारे रहस्यों को देख लिया था, वे सत्स्वरूप को ठीक तरह से पहचानते थे, वे जानते थे कि ईश्वर की इच्छा क्या है।

अतः वे कवि को भी हिदायत दे सकते थे। यह ठीक है कि कवि को, प्रारम्भ में, उन्होंने अपने Republic से निकाल नहीं दिया था, जैसा कि आगे चल कर उन्होंने किया। पर यह तो ठीक है कि प्रारम्भ से ही कवि के प्रति उनकी धारणा ऊंची नहीं थी। वे दार्शनिक को कवि से सदा ऊंचा स्थान देते रहे। Ion में उन्होंने कवि की स्थिति अवश्य स्वीकृत की है पर दैवी-शक्ति प्रेरित व्यक्ति के रूप में हो, स्वतन्त्र रूप में नहीं! परन्तु वार्तालाप के दौरान में कवि को जिस ढंग से Expose किया गया है, उसकी बातों की निस्सारता दिखलाई गई है, उससे पता चलता है कि प्लेटो के हृदय में दार्शनिक का महत्व कवि से अधिक है। हो सकता है समय के विकास के साथ प्लेटो के हृदय में यह भावना और भी विकसित हो गई हो और अन्त में उसके दार्शनिक ने Repuplic में आते-आते कवि को एक दम देश-निकाला ही दे दिया हो।

Republic में प्लेटो ने एक संतुलित तथा आदर्श समाज के स्वरूप तथा उसकी रचना सम्बन्धी सिद्धान्तों पर विचार किया है। एक ओर ये विचार अपनी परिपक्वता के लिए दर्शनीय हैं तथा दूसरी ओर बहुत ही संयत एवं तर्कपूर्ण ढंग से प्रौढ़ भाषा में उपस्थित किये गये हैं। इस पुस्तक में दो स्थानों पर कविता अथवा काल्पनाशील साहित्य पर चर्चा का प्रसंग उपस्थित हुआ है—द्वितीय तथा दशम परिच्छेद में। द्वितीय परिच्छेद में काव्य सम्बन्धी जो बातें हैं वे कोई जमकर विस्तृत तथा सांगोपांग रूप में विवेचनात्मक ढङ्ग से नहीं कही गई हैं। वे संक्षिप्त हैं और अन्य आनुषंगिक बातों के प्रवाह-क्रम में उठी हुई हल्की तरंग मात्र हैं।

दशम परिच्छेद में कविता के स्वरूप पर अधिक विस्तारपूर्वक तथा

गम्भीरता से विवेचन किया गया है यद्यपि यहां भी बातें आदर्श समाज की कल्पना के प्रसंग में आई हैं।

पाश्चात्य साहित्यालोचन के इतिहास में Republic में प्रकटित प्लेटो के काव्य सम्बन्धी विचार बहुत ही महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं, आलोचना क्षेत्र के ये Major Document हैं। प्रथमतः तो ये अपनी प्राथमिकता के लिए ही दर्शनीय हैं। कारण कि इसके पूर्व इतने विवेचनापूर्ण ढङ्ग से विस्तारपूर्वक किया गया साहित्य-सम्बन्धी विचार नहीं मिलता। इस दृष्टि से अपने विषय का यह पहला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यूनानी संस्कृति की प्रौढ़ता ने उस समय तक विचार-मंथन करके जो नवनीत निकाला था उसकी सुन्दर झलक हमें यहां मिल जाती है। दूसरी बात यह कि आज हमारे सामने पाश्चात्य साहित्यालोचन की जो भव्य अट्टालिका दिखलाई पड़ती है उसकी नींव यही है। इन्हीं विचारों को लेकर सभी ने अपनी विचार-सरणि का सूत्रपात किया है। ये आलोचना शास्त्र के प्रारम्भक सूत्र हैं, Starting Point है। किसी ने इसका समर्थन किया है, किसी ने खण्डन। किसी ने अपने ढङ्ग से इनकी व्याख्या की है और इसी प्रयास में प्लेटो के ही शब्दों से वे बातें कहलवाई हैं जो शायद प्लेटो की कल्पना में भी नहीं आई हों—हो सका है तो समझा बुझा कर, नहीं तो गलेला देकर। अतः इस महत्त्वपूर्ण कथन को हम यहां उद्धृत कर रहे हैं।

सुकरात और Glaucon में वार्तालाप हो रहा है

'हमने आदर्श राज्य की जो रूपरेखा उपस्थित की है उसमें बहुत सी अच्छाइयां हैं परन्तु उन सबों में कविता के नियम के सम्बन्ध में विचार करने में जो आनन्द आता है, वैसा कहीं नहीं आता।'

'आपका संकेत किस ओर है ?'

'मेरा संकेत अनुकरणात्मक कविता की अस्वीकृति की ओर है। इसको हमें कभी भी स्थान नहीं देना चाहिए, और जब हमने आत्मा के भिन्न-भिन्न अंशों को अलग-अलग करके देख लिया है तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

'आपका मतलब नहीं समझा।'

'मैं आपको विश्वास में लेकर, यह बात कह रहा हूं। मैं नहीं चाहता कि मेरी ये बातें दुःखान्तकियों के लेखक तथा शेष अनुकरणक वर्ग के सामने कही जाएं, परन्तु आप से कहने में कोई हिचक नहीं कि कविता के नाम पर जितनी अनुकरणात्मक रचनाएं प्रचलित हैं वे सब की सब श्रोताओं की बुद्धि को चौपट कर देने वाली हैं। ऐसे लोगों के लिए एक ही दवा है कि उन्हें वस्तुओं के (जिनका वे अनुकरण करते हैं) वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो....अच्छा, यह तो बताओ, यह अनुकरण क्या बला है। मुझे तो इसका सच्चा ज्ञान नहीं।'

'(जब आपको ही पता नहीं तब) मुझे इसका ज्ञान होगा यह बात आपने खूब कही।'

'तब हम लोग यथा-पूर्व साधारण ढङ्ग से विचार प्रारम्भ करें; जहां भी एक नाम से पुकारे जाने वाले अनेक वस्तु-व्यक्ति पाये जाते हैं, तब हम मान लेते हैं कि उनके अनुरूप कोई Idea या Form अवश्य होगा—समझे न ?'

'खूब।'

'अच्छा, अब कोई सामान्य उदाहरण लें। संसार में बहुत सी चार-पाइयां और मेजें हैं—हैं न !'

'हां।'

'परन्तु उनके Idea या Form तो दो ही हैं—एक चारपाई का, दूसरा मेज का।'

'ठीक।'

'हमारे उपयोग के लिए जब कोई रचयिता चारपाई या मेज़ की रचना करने लगता है तो वह इसी Idea के अनुरूप उसे बनाता है—इस, तथा इसी तरह के अन्य उदाहरणों के सम्बन्ध में भी हम इसी ढङ्ग से बातें करेंगे—परन्तु कोई भी रचयिता स्वयं Idea का निर्माण तो नहीं कर सकता। कैसे करेगा भला?'

'असम्भव।'

'फिर भी एक दूसरा कलाकार है—मैं जानना चाहूंगा कि उसके बारे में आपका क्या कथन है?'

'वह कौन है?'

'जो दूसरों के द्वारा बनाई हुई सब चीजों को बनाता है।'

'वह तो बड़ा ही असाधारण आदमी होगा।

'जरा सा ठहरिये, तब आपको ऐसा कहने के और कारण भी मिलेंगे, कारण कि यह ऐसा आदमी है जो हर किस्म का बर्तन ही नहीं बना सकता, पौधे भी बना सकता है, पशुओं को भी बना सकता है, अपनी भी रचना कर सकता है और सब चीजों की; जमीन और आसमान तथा जमीन-आसमान पर पाइ जाने वाली सब चीजों की। यहां तक कि वह देवताओं की भी रचना कर सकता है।

''तब तो वह जादूगर होगा इसमें कोई संदेह नहीं।

''अरे, आपको तो विश्वास ही नहीं होता है, है न ऐसा ! तब क्या आपका मतलब है कि ऐसी रचना करने वाला अथवा बनाने वाला कोई हो ही नहीं सकता ? अथवा यह कि एक अर्थ में ऐसा रचयिता सृजक हो सकता है और दूसरे अर्थ में नहीं ? क्या आपको मालूम है कि एक तरीके के आप स्वयं सब चीजों की रचना कर सकते हैं !

''सो कैसे ?

''बहुत सीधा तरीका है; अथवा बहुत से तरीके हैं, जिनके द्वारा यह कार्य शीघ्र और सहज ही सम्पन्न हो सकता है। सबसे सीधा और छिप्र तरीका यह है कि एक दर्पण लेकर चारों तरफ घुमाओ। तुम देखोगे कि तुम शीघ्र ही सूरज, आकाश, पृथ्वी, स्वयं, पशुओं, पौधों की तथा अभी जितनी चीजों की बातें कह रहे थे उन सब की रचना दर्पण में तुम कर रहे हो।

''हां, पर वे तो प्रतिबिम्ब मात्र होंगे।

''बहुत ठीक। अब तुम राह पर आ रहे हो। चित्रकार भी तो मेरे ख्याल में ठीक इसी तरह का व्यक्ति है अर्थात् प्रतिबिम्बों का निर्माता ! है कि नहीं ?'

'इसमें क्या सन्देह है।'

'परन्तु तब मैं मानता हूं कि तुम कहोगे कि वह जो कुछ निर्माण करता है वह असत् है। फिर भी यह कहना, एक अर्थ में सही भी है कि चित्रकार चारपाई का निर्माण करता है।'

'हां, परन्तु वास्तविक चारपाई का नहीं।'

'और चारपाई का जो निर्माण करता है उसके बारे में आपका क्या

कहना है ? आप कह रहे थे न कि वह भी निर्माण तो करता है पर उसका नहीं जो हम लोगों के विचार में चारपाई का Idea है; उसका सारतत्व ! परन्तु केवल एक विशेष चारपाई का ।'

'हां, मैंने ऐसा कहा था ।'

'यदि वह उस चीज का निर्माण नहीं करता, जो है, तब वह सच्चे अस्तित्व का निर्माता नहीं हो सकता । वह अस्तित्व के बाहरी रूप का ही निर्माण कर सकता है । यदि कोई यह कहे कि चारपाई के निर्माण करने वाले अथवा किसी भी कारीगर की कृति का वास्तविक अस्तित्व है, तो वह बात शायद ही सच्ची कही जा सके ।

'कम से कम दार्शनिक तो कहेंगे ही कि वह सच्ची बात नहीं कह रहा है ।'

'तो इसमें आश्चर्य नहीं कि उसकी कृति भी सत्य की अस्पष्ट अभि-व्यक्ति है ।'

'हां, कोई आश्चर्य नहीं ।'

'अच्छा, अब इन उदाहरणों के आलोक में यह पता लगावें कि यह अनुकरण करने वाला कौन है ।'

'जैसी आपकी मर्जी ।'

'तब, हमारे सामने तीन चारपाइयां हैं—एक प्राकृतिक चारपाई जिसका निर्माण, कहें तो ऐसा ही कह सकते हैं कि ईश्वर ने किया है—क्योंकि दूसरा कोई निर्माता हो ही नहीं सकता ।'

'नहीं ।'

'दूसरी चारपाई वह जो बढ़ई बनाता है।'

'हां।'

'तीसरी चारपाई वह जिसे चित्रकार बनाता है।'

'हां।'

'तब चारपाइयां तीन तरह की हुई और तीन तरह के कलाकार जो उनकी रचना करते हैं; ईश्वर, चारपाई को बनाने वाला कारीगर और चित्रकार।

'हां, तीन तरह की चारपाइयां हुई।'

'चाहे अपने मन से, चाहे आवश्यकतावश, ईश्वर ने प्राकृतिक रूप से एक ही चारपाई बनाई! सिर्फ एक ही!! ईश्वर ने दो या अधिक आदर्श चारपाइयां न तो बनाई ही हैं और न भविष्य में ही बनावेगा!'

'ऐसा क्यों?'

'कारण कि यदि वह दो चारपाइयां बनाता है, तो इन दोनों के आधार रूप में एक अन्य चारपाई की कल्पना करनी ही होगी जिसे वह आदर्श रूप में ग्रहण करता है और यही Ideal चारपाई होगी, शेष दोनों नहीं!

'बहुत अच्छा।'

'ईश्वर इस बात को जानता था और वह एक आदर्श चारपाई का वास्तविक निर्माता होना चाहता था। किसी एक विशिष्ट चारपाई का विशिष्ट निर्माता नहीं। अतः उसने एक ऐसी चारपाई का निर्माण किया जो निसर्गतः और आवश्यक रूप में एक ही हो सकती थी।

'हां, ऐसा हमारा भी विश्वास है।'

'तब उसे हम चारपाई का प्राकृतिक निर्माता समझें न ?'

'हां, जहां तक सृष्टि की प्राकृतिक प्रक्रिया के कारण वह इस चारपाई तथा अन्य वस्तुजातों का निर्माता है।

'और हम उस बढ़ई को क्या कहें ? क्या वह भी चारपाई का निर्माता नहीं है ?'

'है।'

'परन्तु चित्रकार को आप निर्माता कहेंगे या नहीं ?'

'कभी नहीं !'

'यदि वह निर्माता नहीं तो चारपाई से उसका क्या सम्बन्ध है।

'मेरे विचार से कि हम उसे दूसरों की बनाई हुई वस्तु का अनुकर्त्ता कहें तो ठीक होगा।'

'अच्छी बात।'

'तब जो व्यक्ति प्रकृति से तीसरी सीढ़ी पर दूर है, उसे आप अनुकर्त्ता कहते हैं।'

'अवश्य।'

'तब तो दुखान्त काव्य की रचना करने वाला भी अनुकर्त्ता कहा जायेगा और दूसरे अनुकर्त्ताओं की तरह वह भगवान या सत्य से तीन पग दूर है।

'बात तो ऐसी ही मालूम पड़ती है।'

'तब हम लोग अनुकर्त्ता के बारे में सहमत हैं। पर मैं आप से एक बात पूछूं। यदि किसी व्यक्ति में किसी मौलिक वस्तु तथा उसके अनुकरण करने की क्षमता वर्तमान है तब आप क्या समझते हैं कि वह मूर्ति के

निर्माण करने की ओर ही गम्भीरतापूर्वक अपना समय लगायेगा ? क्या वह अनुकरण को ही अपने जीवन का प्रमुख सिद्धांत बनायेगा, मानों उसको कोई अधिक महत्त्वपूर्ण काम करना ही न हो !

'मैं ऐसी बात नहीं मानता।'

'सच्चे कलाकार की अभिरूचि वास्तविकता की ओर अधिक होती है, अनुकरण की ओर नहीं। वह अपनी यादगार के लिए बहुत से उत्तम कार्यों को छोड़ जायेगा। वह दूसरों की विरुदावली की रचना से अधिक यह बात पसन्द करेगा कि वह स्वयं ऐसी विरुदावलियों का विषय बन सके।

'तब क्या हम यह न समझें कि होमर से लेकर आज तक जितने कवि नामक व्यक्ति हुए हैं वे सब अनुकर्त्ता हैं। वे गुणों की मूर्ति की नकलें करते हैं परन्तु वे सत्य तक कभी नहीं पहुंचते।

'यहां एक दूसरी बात आती है। अनुकर्त्ता या मूर्तियों का निर्माता वास्तविक अस्तित्व के बारे में कुछ भी नहीं जानता। वह केवल बाहरी रूपों को जानता है। ठीक कहता हूं न ?

'हां।'

'तब हम प्रश्न को स्पष्टतया समझ लें और इसके अर्द्ध ज्ञान–मात्र से ही सन्तोष न करें।'

'बहुत अच्छा, आगे बढ़िये।'

'चित्रकार के बारे में कहा जाता है कि वह लगाम का चित्र बना सकता है। क्या वह कांटे का चित्र भी बना सकेगा ?

'हां।'

'तब चमड़े तथा पीतल का काम करने वाले व्यक्ति भी ऐसा कर सकेंगे। है न !

अवश्य

'परन्तु क्या यह बात भी ठीक है कि चित्रकार कांटे अथवा लगाम के वास्तविक रूप को जानता है, कभी नहीं हो सकता! पीतल तथा चमड़े का काम करने वाले भी शायद न जानते हों! इसके सच्चे रूप का ज्ञान यदि किसी को है, तो, घुडसवार को! जो यह जानता है कि उसका उपयोग किस प्रकार से हो।

'बहुत ठीक।'

'क्या यही बात सब चीजों के लिए लागू नहीं हो सकती?'

'कौन सी बात?'

'यही कि सब चीजों के साथ सम्बन्ध रखने वाली कलाएं तीन तरह की हैं। एक जो उनका उपयोग करती है; दूसरी जो उनका निर्माण करती है और तीसरी जो उनकी अनुकृति उपस्थित करती है।

'ठीक बात है।'

'तब यहां तक हम सहमत हैं कि अनुकर्त्ता को, अनुकरण की जाने वाली वस्तु का कुछ भी ज्ञान नहीं होता; अनुकृति एक तरह का खेल है, तब दुखान्त कवि चाहे Iambic छन्द में रचना करे अथवा Heroic छन्द में वह सर्वोत्कृष्ट अनुकर्त्ता है।

'बहुत ठीक।'

''अब मैं आपसे पूछता हूं कि क्या हम लोगों ने यह बात नहीं प्रमाणित की कि अनुकरण, सत्य से तीन सीढ़ियां दूर है। अतः मैंने यह कहा कि चित्र-कला या लेखन-कला अथवा अनुकरण मात्र जब अपने सच्चे कर्त्तव्य का पालन करते हैं तो सत्य से बहुत दूर रहते हैं। और वे हमारे अन्दर वर्तमान उस तत्व के साथी हैं जो, बुद्धि से उतनी ही दूर है और उनका कोई सत्य तथा स्वस्थ लक्ष्य नहीं होता।

''बहुत ठीक।

"अनुकरणशील कला निम्नकोटि की होती है जिसका विवाह भी नीच से होता है और उसकी सन्तान भी निम्न कोटि की होती है।

"बहुत ठीक।

"तब क्या यह बात चाक्षुष प्रतीति के लिए ही ठीक है अथवा श्रावण के लिए भी जिसका सम्बन्ध कविता से है?

"कदाचित् यह बात कविता के लिए भी ठीक होगी।

"तब हम इस प्रश्न को यों रख सकते हैं; मनुष्यों के द्वारा इच्छा या अनिच्छा पूर्वक जो कार्य किए जाते हैं वे अच्छे या बुरे परिमाण उत्पन्न करते हैं अथवा आनन्द या दुख उत्पन्न करते हैं। ऐसे कार्यों का अनुकरण करना ही अनुकरण कहलाता है।

"क्या हम लोग यह नहीं कह रहे थे कि यदि मनुष्य उच्च हुआ तब पुत्र की मृत्यु या ऐसी कोई प्रिय वस्तु को खो देने जैसी स्थिति आने पर वह इस परिस्थिति का सामना दूसरों से अधिक धैर्य के साथ करेगा।

"हां,

'परन्तु क्या उसे दुख होगा ही नहीं? अथवा यों कहें कि यदि दुःख होना अनिवार्य ही है तो भी वह दुःख को कम करके महसूस करेगा। उसमें एक नियम और तर्क का तत्व वर्तमान रहता है, जो इस तरह की भावना पर नियंत्रण करना सिखलाता है। पर साथ ही उसमें अपनी विपत्ति की अनुभूति की भावना भी वर्त्तमान रहती है जो अपने दुख को अनुभव करने के लिए भी उकसाती रहती है।

"ठीक।

'नियम का ज्ञान यह कहेगा कि विपत्ति के अन्दर धैर्य रखना सर्वोत्तम है और हमें अधीर नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह जानने का कोई तरीका

नहीं है कि ऐसी चीजें अच्छी हैं अथवा बुरी, अधीर होने से कोई लाभ नहीं होता। दूसरी बात यह है कि कोई भी मानवीय वस्तु बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं होती और जिस चीज की तात्कालिक आवश्यकता है उसमें शोक बाधा उपस्थित करता है।

"सब से आवश्यक पदार्थ क्या है ?

"यही कि जो कुछ घटना घटे, उस पर हम बुद्धिपूर्वक विचार करें। और जब पासा फेंक दिया जाय तो अपने कार्यों को इस रूप में व्यवस्थित करें जिसे बुद्धि सर्वोत्तम समझती है। हम बालकों की तरह व्यवहार न करें, जो गिरने पर उस अंग को पकड़ कर चिल्लाते रहते हैं, जहां चोट लगती है। हमें चाहिये कि हम अपने अन्दर तत्परता से दवा लगाने की स्फूर्ति पैदा करें ! जो रुग्ण या दुखी है उसे उठाने की कोशिश करें !! और अपने घाव भरने वाली कला के द्वारा दूसरों के शोक के आंसू पोंछें !!!

"हां, विपत्ति के आघात का सामना करने का यही सच्चा रास्ता है।

"हूं,

"हमारे अन्दर जो उच्च तत्व वर्तमान है, वह सदा बुद्धि के संकेत का अनुसरण करता है।

"यह तो स्पष्ट ही है।

"और दूसरा तत्व जो दुखों की याद दिलवाता रहता है और शोक में मग्न करवाता रहता है, जिसका कोई अन्त नहीं, उसे हम निर्बुद्धि, बेकार और कायर कह सकते है।

"सच, ऐसा तो कहना ही चाहिये।

'तब क्या यह बात ठीक नहीं है कि दूसरा तत्व मेरा, मतलब विद्रोह मूलक तत्व से है, सदा अनुकरण के लिए विविध प्रकार की सामग्री

उपस्थित करता है। दूसरी ओर चतुर और शांत प्रकृति ज्यादा गम्भीर होने के कारण सहजता-पूर्वक अनुकूल नहीं हो सकती और यदि इसका अनुकरण किया भी जाय तो लोग इसकी प्रशंसा भी नहीं करेंगे। विशेषतः एक सार्वजनिक उत्सव के अवसर पर जहां एक स्थान पर अनेक प्रकार के मनुष्यों का समूह एकत्र होता है। क्योंकि जिस भावना की अनुकृति उपस्थित की जा रही है, उससे वे अपरिचित हैं।

"ठीक।

"तब यह बात तय हुई कि लोकप्रिय बनने का ध्येय रखने वाला अनुकरणशील कवि प्रकृति से ही ऐसा उत्पन्न नहीं होता और न उसकी कला ही मानव आत्मा के बुद्धि तत्व को प्रभावित करने के लिए उत्पन्न होती है, परन्तु वह तो आवेश-मय तथा अस्थिर मनोवृत्तियों का ही अनुकरण करना पसन्द करेगा, जिनका अनुकरण करना सहज भी है।

"बहुत ठीक!

"अब हम लोग ऐसे व्यक्ति को चित्रकार के समक्ष रख सकते हैं, क्योंकि वह इससे दो बातों में मिलता है। प्रथमतः तो, इसकी रचना में निम्न कोटि की सत्यता रहती है और इस तरह वह इससे मिलता है। दूसरी समानता यह हैं कि उसका भी सम्बन्ध इसकी ही तरह आत्मा के निम्न अंश से रहता है। अतः यदि हम लोग एक सुव्यवस्थित राज्य व्यवस्था में उसे स्थान न दें, तो हम सही रास्ते पर हीं होंगे, क्योंकि वह भावनाओं को ही जागृत, पोषित, तथा प्रोत्साहित करेगा और बुद्धि को निर्बल करेगा। जैसे नगर में जब पाप का अधिकार बढ़ जाता हैं और पुण्य का तिरस्कार होता है उसी तरह, हमारा कहना, है कि अनुकरणशील कवि मनुष्यों के अन्दर एक बुरे तत्व की स्थापना करता है, क्योंकि वह बुद्धिहीन तत्वों का प्रश्रय देता है, जिसमें कम और बेस की विवेक-बुद्धि नहीं

होती। वह एक ही चीज को एक समय बड़ा और दूसरे समय छोटा समझता है। दूसरे शब्दों में जो मूर्तियों का निर्माण करता है और सत्य से बहुत दूर है।

"बहुत ठीक !

"परन्तु हमारी जो सबसे बड़ी शिकायत है उसकी चर्चा तो मैंने अभी की ही नहीं। वह यह है कि कविता में अच्छी बात को भी हानि पहुंचाने की शक्ति है। और बहुत कम ऐसे हैं, जिनको हानि नहीं पहुंचती। इस तरह कविता क्या भयानक चीज नहीं है ?

"जरूर; यदि प्रभाव वैसा ही हो, जैसा आप कहते हैं !

"सुनो और विचार करो ! जब हम होमर की कविता का कोई अंश पढ़ते हैं, या दुखान्त नाटकों के उन भागों को पढ़ते है, जिनमें नायक बहुत जोर-शोर से अपने शोक की अभिव्यक्ति करता है, छाती पीट-पीट कर रोता है, तो मनुष्यों में बड़े से बड़ा व्यक्ति भी उसके साथ सहानुभूति प्रगट करने में आनन्दित होता है। और उनकी भावनाओं को जगा देने वाले कवि के कौशल पर मुग्ध हो जाता है।

"हां, मैं खूब जानता हूं !

"परन्तु जब हम लोगों पर विपत्ति आती है, तब आपने देखा होगा कि हम ठीक इसके विपरीत गुणों को ही महत्त्व देते हैं। अर्थात् हम लोग शांत और धीर होना ही पसन्द करते हैं। यही पुरुषोचित व्यापार है, और वह चीज जो ऐसे वर्णन में ही आनन्द लेने को प्रेरित करती है; वह है नारियों का व्यापार !

"बहुत ठीक !

"तब क्या उस आदमी की प्रशंसा करना हमारे लिए ठीक होगा जो

उस कार्य को करता है, जिससे हम घृणा करते हैं और जिसे करते हुए स्वयं लज्जा का अनुभव करते है !

"नहीं, यह कभी भी युक्ति-युक्त नहीं होगा।

"नहीं, मैं तो कहूंगा कि एक दृष्टि से यह खूब युक्ति-युक्त कहा जा सकता है।

"किस दृष्टिकोण से ? बतलाइये !

'आप इस दृष्टि से विचार करें ; विपत्तिकाल में मनुष्य के अन्दर रोदन तथा विलाप के द्वारा अपने शोक को दूर करने की स्वाभाविक आकांक्षा होती है, परन्तु इस प्रवृत्ति पर हम विपत्ति के अवसर पर नियन्त्रण करते हैं। इस नियन्त्रित प्रवृत्ति को कवि के द्वारा सन्तुष्टि प्राप्त करने का अवसर दिया जाता है। अतः हम लोगों की प्रकृति जो बुद्धि या अभ्यास के द्वारा ठीक से शिक्षित नहीं होती, उसका उत्तमांश हमारी सहानुभूति के तत्व को खुलकर सामने आने का अवसर प्रदान करती है, क्योंकि शोक अपना न होकर दूसरे व्यक्ति का है। दर्शक भी यही सोचता है कि उस व्यक्ति की प्रशंसा करने, या उस पर करुणा करने में कोई निन्दा की बात नहीं, जो आकर उससे अपनी अच्छाई का वर्णन करता है, और अपनी विपत्तियों को बढ़ा-चढ़ा कर कहता है। वह सोचता है कि आनन्द तो मिल ही जाता है, तब वह इस आनन्द को और कविता को खोने की मूर्खता क्यों करे ! मेरे ख्याल में बहुत कम लोगों में यह सोचने की बुद्धि होती है कि दूसरों की बुराई से अपने में भी बुराई आ जाने की सम्भावना है। अतः दूसरों की विपत्ति को देखकर हृदय में जो शोक के भाव उत्पन्न होते हैं, उनको अपने अन्दर दबाकर रखने में कठिनता होती है। क्या यही बात हास्य तथा इसके सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती ? बहुत से ऐसे मजाक होते हैं, जिन्हें करने में आप स्वयं लज्जा का अनुभव

करेंगे। फिर भी उन्हीं मज़ाकों को या तो एकान्त में या हास्य रस के अभिनय में देखेंगे या सुनेंगे, तब आपको बहुत प्रसन्नता होगी और उनका भद्दापन आपको कुछ भी अरूचिकर नहीं लगेगा। करूणा में भी इसी बात की पुनरावृत्ति होती है कि मनुष्य के अन्दर एक तत्त्व होता है, जो हास्य की मांग करता है, लेकिन आदमी की बुद्धि इस पर नियन्त्रण करती है; ताकि दूसरे उसको हंसोड न समझने लगें। इस नियन्त्रित तत्त्व को प्रवाह मिलने का अवसर मिलता है और नाटक में इस प्रवृत्ति के जागृत होने के कारण आदमी को अपने घर में भी, हास्य रस के कवि की तरह, अपनी अज्ञानावस्था में आचरण करने का अवसर मिल जाता है।

"बहुत ठीक।

"यही बात काम, क्रोध तथा अन्य आवेगों के बारे में, इच्छाओं, पीडाओं तथा आनन्द के बारे में भी कही जा सकती है, जो किसी क्रिया से अलग नहीं हो सकती। सब में कविता आवेशों को पुष्पित और पल्लवित ही करती है, उन्हें सुखाती नहीं; कविता उन्हीं को प्रधान बना देती है। हालांकि मानवता की प्रसन्नता और इनके सद्गुणों की वृद्धि के लिए आवेशों का नियन्त्रित होना आवश्यक है!

"मैं इसे अस्वीकार नहीं कर सकता।

"अतः, जब कभी आप होमर के प्रशंसकों से मिलें जो उसे ग्रीस निवासियों के शिक्षक की पदवी देते हैं और यह कहते हैं कि मनुष्यों की शिक्षा तथा उनकी व्यवस्था और शिक्षा लिए वह लाभदायक है, उसे बार-बार पढ़ना चाहिये और मनन करना चाहिए, ताकि अपना पूरा जीवन उसके अनुसार व्यवस्थित किया जा सके। हम ऐसे कहने वाले को प्यार करते हैं और उसका आदर करते हैं। वे अपनी बुद्धि के अनुसार बड़े ही

अच्छे व्यक्ति हैं। हम यह मानने के लिए तैयार हैं कि होमर कवियों में सर्वश्रेष्ठ है और सर्वप्रथम दुखान्त नाटकों को लिखने वाला है। परन्तु हमें एक विश्वास पर दृढ़ रहना चाहिए कि देवताओं की प्रशस्ति के रूप में और प्रसिद्ध व्यक्तियों की प्रशंसा के रूप में रची गई कविता ही ऐसी है, जिसे हम अपने राज्य में स्थान दे सकते हैं। कारण, यदि हमने इसके आगे जाकर मधुर कविता को, चाहे वह महाकाव्य हो या गीति काव्य, प्रवेश करने की अनुमति दी; तो इसका परिणाम यह होगा कि राज्य में से नियम और बुद्धि का राज्य उठ जायेगा! उसका संचालन, आनन्द और पीड़ा के आधार पर होने लगेगा!!

"यह बिलकुल ठीक है।

"चूंकि हम लोग पुनः कविता सम्बन्धी वार्तालाप पर आ गये हैं; अतः तर्क से हमने जो पहले राज्य से उस कला को बहिष्कृत करने की बात सोची थी, जिसमें ये सब प्रवृत्तियां हैं, कितना तर्क-पूर्ण था! क्योंकि विवेक ने ही हमें ऐसा निर्णय देने के लिए बाध्य किया था। परन्तु डर है कि यह कला हम लोगों पर उज्जडता तथा विनय के अभाव का लांछन लायेगी। अतः हम लोग इससे नम्र निवेदन करें कि दर्शन और कविता में तो बहुत प्राचीन काल से ही लड़ाई चलती आ रही है जिसके बहुत से प्रमाण मिले हैं। इसके बावजूद भी हमें प्यारे मित्र और अनुकरणशील सब कला बहनों को विश्वास दिलाते हैं कि यदि एक सुव्यवस्थित राज्य में स्थान पाने की योग्यता का वे प्रमाण दे सकें, तो हम प्रसन्नतापूर्वक उनका स्वागत करेंगे। हम उनके आकर्षणों से अच्छी तरह परिचित हैं; परन्तु इसके चलते हम सत्य का परित्याग नहीं कर सकते। मैं कहने का साहस करता हूं कि उन पर मैं कितना मुग्ध हूं

उतना आप भी होंगे ! विशेषत: जब वह होमर के काव्य में उपस्थित है !!

"हां, सचमुच मैं उस पर बहुत ही मुग्ध हूं !

"तब क्या मैं यह प्रस्ताव करूं कि उसे देश में लौट आने की अनुमति दे दी जाय। परन्तु एक ही शर्त पर कि वह अपने पक्ष की वकालत गीत-काव्य में या किसी दूसरे छन्द के माध्यम से करे।

"हां, अवश्य।

"और हम कविता के प्रेमियों और समर्थकों को, जिनकी कमी नहीं है, इसकी अनुमति दे दें कि वे गद्य में, इसके समर्थन में बातें कहें। वे लोग इतना ही नहीं प्रमाणित करें कि कविता केवल आनन्ददायक होती है, अपितु वे यह भी प्रमाणित करने की चेष्टा करें कि वह राज्य के लिए तथा मानव जीवन के लिए भी उपयोगी है। तब हम उनकी बातों को बहुत सहृदयतापूर्वक सुनेंगे। क्योंकि यदि यह बात साबित हो जाय, तो हम लोग लाभ में ही रहेंगे। मतलब यह कि यह प्रमाणित हो जाय कि कविता में आनन्ददायकता के साथ-साथ उपयोगिता भी है !

"हां, अवश्य; हम लोग अवश्य लाभ में रहेंगे !

"परन्तु यदि उसका पक्ष प्रमाणित नहीं होता, तब मेरे मित्र ! हमें उसका पक्ष छोड़ देना पड़ेगा। यद्यपि इसके लिए हमें कुछ कम कष्ट नहीं होगा। पहले देखा जाता है कि जब हम किसी चीज को प्यार करते हैं बाद में यह पता चलता है कि इस प्यार के कारण हमारे हितों में बाधा होती है तो हम उन्हें छोड़ देते हैं। हम लोगों के हृदय में भी कविता के लिए आदर के भाव हैं क्योंकि राज्य की शिक्षा ने हमारे हृदय में इस तरह के भाव भर दिये हैं; इसलिए हम चाहते हैं कि यह अपने सच्चे और सर्वश्रेष्ठ रूप में उपस्थित हो; परन्तु जब तक वह

अपने पक्ष का समर्थन नहीं कर पाती, तब तक उन लोगों का तर्क हमें प्रभावित करता रहेगा और हम लोग कविता के मधुर स्वर को सुनते हुए भी बार-बार अपने हृदय में यह बात कहते रहेंगे कि कविता के प्रेम में बच्चों की तरह न पड़ें जिस प्रेम ने बहुतों को बन्दी बना कर रखा है। जो कुछ हो, हम अच्छी तरह जानते हैं कि कविता के सम्बन्ध में हमने जिस तरह विचार किया है उसके अनुसार यह नहीं कहा जा सकता कि कविता सत्य की द्योतक है। जो कविता की बातों को सुने उसे सदा उसके बहकावे से बचना चाहिए और हम जो कह रहे हैं उसे ही सिद्धांत-वाद समझना चाहिये।

"मैं आपके साथ पूर्ण रूप से सहमत हूं।

"हां, यहां पर एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित है; यह जिस रूप में दिखाई पड़ता है, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनुष्य कैसा ही हो, अच्छा या बुरा, यदि प्रतिष्ठा, धन, शक्ति तथा कविता के आवेश में आकर व्यक्ति न्याय और गुणों की अवहेलना करे तो उसकी क्या दशा होगी !

"मैं आपके तर्क से पूर्ण विश्वस्त हूं और मेरा विश्वास है कि कोई भी विश्वस्त होगा !"

ऊपर प्लेटो के वार्तालाप का जो अनुवाद विस्तार पूर्वक दिया गया है, वह इसलिए कि पाश्चात्य समालोचना साहित्य में यह प्रथम अवसर है जिसमें कविता के सम्बन्ध में व्यवस्थित रूप में जम कर बातें कहीं गई हैं। इसके पहले छुट-पुट बातें तो मिल जाती है, परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया है। अतः समालोचना के क्षेत्र का प्रथम वक्तव्य होने के कारण यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और आगे चलकर इसके

समर्थन या खण्डन में जो बातें कही गई है; इन्हीं को लेकर समालोचना क्षेत्र का विकास हुआ है। विचारकों में यह प्रवाद प्रचलित है कि सारे यूरोपीय दर्शनशास्त्र का विकास प्लेटो के वक्तव्य पर की गई टिप्पणी तथा व्याख्या के सिवाय और कुछ नहीं है।

प्लेटो के उपरोक्त कथन से कुछ बातें स्पष्ट हो जाती है; प्रथमतः तो उसका व्यवहारिक दृष्टिकोण; प्लेटो यहां पर एक आदर्श राज्य की सुरक्षा और व्यवस्था की बात कर रहे थे और उसी के प्रसंग में कविता और कवि की बात भी उठाई गई थी इसलिए एक व्यापक व्यवहारिक बात की छाया सारे वातावरण पर मंडराती सी दिखलाई पड़ती है। यही कारण है कि उन्होंने कला के तीन रूप उपस्थित किये हैं।

एक वह जो किसी चीज का उपयोग करती है दूसरी वह जो बनाती है तीसरी वह जो अनुकरण करती है।

इन तीनों में उन्होंने उपयोग करने वाली कला का अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु वह इतना कह कर ही नहीं रह गये हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि कविता की उत्पत्ति माननीय आत्मा की जिस तह से होती है। वह बहुत ही निम्न स्तर का है (Inperox part of the soil) दूसरी बात यह है कि यह श्रोताओं को अशक्त बनाती है कारण कि इसके द्वारा आवेगों की पुष्टि होती है, जिनको नियन्त्रण में रखना मनुष्य के विकास के लिए बहुत आवश्यक है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्लेटों की तीन स्थापनाएं थी, एक कविता, अनुकरण का अनुकरण है। अतः सत्य की तीसरी श्रेणी पर है। दूसरी कि कविता की उत्पत्ति मानवीय आत्मा की नीची सीढ़ी

पर होती है। तीसरी कविता के श्रोताओं के आवेगों को जगाकर उन्हें निःशक्त बनाती है। अतः हम देखते हैं कि यदि इन लाञ्छनों से कविता की रक्षा करनी है तो हमें इन तीनों बातों का उत्तर देना होगा; कि कविता अनुकरण का अनुकरण नहीं है! कि कविता मानवीय आत्मा के बहुत ही सार्थक और महत्त्वपूर्ण स्तर पर जन्म लेती है और अन्त में यह भी दिखलाना पड़ेगा कि कविता एक क्षण श्रोताओं के आवेगों और भावों को जगाती भले ही दीख पड़े, परन्तु अन्त में चलकर वह इन्हें शान्त ही करती है! इन तीनों बातों को अरस्तू ने अच्छी तरह दिखलाया है। अतः हम अब अरस्तू के सिद्धान्तों को देखेंगे। इस के द्वारा अरस्तू की बातों का ज्ञान तो होगा ही, प्लेटो के विचारों का भी स्पष्टीकरण होगा।

साहित्य से साहित्यकार

साहित्य के अध्ययन के लिए कितनी ही पद्धतियां प्रचलित हैं। कोई साहित्य पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करता है—कोई सामाजिक से, कोई आर्थिक से, कोई साहित्यिक से, कोई मनोवैज्ञानिक से। सब के द्वारा हमें आलोच्य वस्तु के सत्स्वरूप के समझने में सहायता मिलती है, उसके छिपे पहलू पर प्रकाश की किरणें पड़ती हैं और वस्तु-विषयक ज्ञान की गहराई में हम ज्यों-ज्यों पैठते जाते हैं हमारे आनन्द की अभिवृद्धि होती है, चित्र का विस्तार होता है। नर्तकी जब स्टेज पर अपने तरल-गतित्व अङ्गसंचालन-चांचल्य से दर्शकों को मुग्ध करती हुई आती है तो उस पर तरह-तरह के रंग-विरंगे प्रकाश की किरणें फेंकी जाती हैं। नर्त्तकी भी वही है, उसके अङ्गों की संचालन-गति में भी कोई अन्तर नहीं, वातावरण भी वही है पर प्रक्षिप्त प्रकाश के रंग-विभेद के कारण कितने छिपे रहस्य प्रकट होने लग जाते हैं, नई-नई बातें सामने आने लग जाती हैं और हमारे रसास्वादन में अपूर्व समृद्धि आ जाती है। अपने ताल, लय और सुषमा के साथ वस्तु रचना पाठकों के सामने है, रचना वही है पर ऐतिहासिक (दृष्टिकोण)

ने रघुवंश, कुमार-संभव में न जाने क्या-क्या रहस्य दिखला दिये। इतिहास ने रघु की दिग्विजय को समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा से मिला कर देखने की प्रेरणा दी तो सचमुच हृदय को आश्चर्य-युक्त प्रसादन प्राप्त हुआ। उसी तरह अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र तथा काव्य-शास्त्र के भी हम कम कृतज्ञ नहीं है।

साहित्य के अध्ययन के इन विविध दृष्टिकोणों में एक जीवन वृत्तात्मक दृष्टिकोण भी है; जिसको अंग्रेजी के कुछ शब्दों के सहारे Auto-biographical point of view भी कह सकते हैं। इस में लेखक के जीवन वृत्तान्त के आलोक में उसके साहित्य के सत्स्वरूप को समझने की चेष्टा की जाती है। पहले लेखक या कवि के जीवन-वृत्त का अध्ययन किया जाता है, देखा जाता है कि किस परिवार में उसका जन्म हुआ, कैसी परिस्थितियों का उसे सामना करना पड़ा, उसकी अवस्था में क्या-क्या परिवर्तन हुए और इन परिवर्तनों का प्रतिबिम्ब कहां तक उसकी कृतियों में अभिव्यक्त हुआ है। इसका अच्छा उदाहरण कबीर या सूर का साहित्य हो सकता है। कबीर का जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ था जो चारों ओर से तिरस्कृत था, उनके जीवन के अनुभव बड़े कटु थे। अतः उनकी वाणी आक्रोशमयी हो गई, भाषा सीधे प्रहार करनेवाली हो गई, उनके सारे साहित्य में उनके हृदय की कटुता परिलक्षित होती है। सूर उच्च कुल में उत्पन्न हुए, उन्हें सामाजिक अपमान का शिकार नहीं होना पड़ा। अतः उनकी वाणी की सौम्यता नष्ट नहीं होने पाई।

इसी तरह केशव के काव्य की विशेषताओं को, उनके आचार्यत्व को, उनके पात्रों की वाक्चातुरी को, उनकी अलंकार-प्रियता को, केशव के राजसी वैभव तथा दरबारी जीवन से मिलाकर देखने की चेष्टा की गई

है । आलोचकों ने कहा ही है कि केशव को सदा राज-दरबार में रहना पड़ता था, वहां के आचार-विचार का सदा ध्यान रखना पड़ता था, वे जानते थे कि राज-दरबार में किस तहजीब से बातचीत की जाती है, वहां कट्टर विरोधी से भी वार्तालाप के प्रसंग में एक मर्यादा का पालन करना पड़ता है । यही कारण है उनके अंगद, रावण से वार्तालाप करते समय तुलसी के अंगद की भांति उच्छृङ्खल नहीं हो गये हैं ! मर्यादा का अति-क्रमण नहीं कर गये हैं !! उनकी भाषा में एक सभ्य शिष्ट राजदूत का बांकपन है ।

साहित्य के अध्ययन पर, एक दूसरे ढंग से विचार करें तो तीन पद्धतियां हो सकती हैं । प्रथमतः तो यह कि हम बाह्य परिस्थितियों, उदाहरणार्थ, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों की ओर से साहित्य पर विचार करें । हमारा दृष्टिकोण यह हो कि इन अमुक परिस्थितियों के कारण ही अमुक तरह के साहित्य की सृष्टि हो सकी है । इसमें सारी सृजन प्रक्रिया की बागडोर परिस्थितियों के ही हाथ में रहती है । वे ही सारथि हैं । दूसरी पद्धति यह है कि हम साहित्य के माध्यम से ही परिस्थि-तियों की ओर झांकें । कल्पना कीजिये कि प्रेमचंद-कालीन युग का इतिहास सर्वथा लुप्त हो गया है । कोई भी दूसरा साधन नहीं है, जिसके द्वारा हम उस समय की सांस्कृतिक, राजनैतिक अथवा सामाजिक परिस्थितियों का परिचय प्राप्त कर सकें । केवल प्रेमचंद का ही साहित्य, उनकी कहा-नियां तथा उपन्यास उपलब्ध है । यदि हम चाहें तो इन पुस्तकों के सहारे उस युग का एक अच्छा इतिहास तैयार कर सकते हैं, उस समय के राज-नैतिक तथा सामाजिक जीवन का चित्र तैयार कर सकते हैं ।

तीसरी पद्धति वह है जो किसी रचना पर विचार करते समय उसे

सर्वतंत्र स्वतन्त्र, निरपेक्ष, स्वत: पूर्ण रूप म विचार करने की संस्तुति करती है। इसके अनुसार किसी रचना को उसके रूप में ही न देखकर उसे अन्य आवान्तर बातों से सम्बद्ध कर देखना समस्या को और भी उलझा देना है। हमारा सारा ध्यान Text पर, शब्दों पर केन्द्रित होना चाहिये। हम जब किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हैं तो हमारा ध्यान व्यक्ति के विशुद्ध रूप पर ही रहता है। हम उसके परिवार की ओर तथा उसके जन्म के इतिहास की ओर नहीं देखने जाते। हम यह नहीं देखते कि यह व्यक्ति वैध पुत्र है या अवैध, धार्मिक रूप से अनुमोदित वैवाहिक सम्बन्धों से इसकी उत्पत्ति हुई है अथवा यह व्यक्ति कामोन्माद-जन्य स्वच्छन्द सम्मेलन की उपज है। हमारे सामने व्यक्ति साक्षात् रूप में उपस्थित है, उसके सारे कार्य कलाप हमारी आंखों के सामने हैं, हम इन्हीं बातों के आधार पर अपना मत निश्चित करेंगे। आजकल नई आलोचना (New Criticism) के नाम से जो आलोचना प्रचलित हो रही है वह यही करती है। यह सब कुछ छोड़कर रचना की आन्तरिक संगति (internal consistency) पर विचार करती है।

इन तीन आलोचना पद्धतियों में से प्रथम पद्धति साहित्य-रचना से कुछ भयभीत सी मालूम पड़ती है। वह साहित्य से मेलजोल बढ़ाना तो चाहती है, उसे समझना भी चाहती है पर मन ही मन कुछ डरी सी भी रहती है। अतः सीधे उसके पास न जाकर अपने साथ अनेक सहकारी मित्रों को भी ले लेती है। इतिहास, अर्थशास्त्र तथा नीति शास्त्र जितने भी सहायक हो सकते हैं और जिस किसी की भी सहायता उसे प्राप्त हो सकती है, उसे साथ लेकर पैंतरेबाजी करती हुई, ललकारती हुई साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करती है। वहां पहुंचते ही उसकी यात्रा समाप्त हो जाती

है। मानों वह मंजिले मकसूद पर पहुंच गई। दूसरी पद्धति ठीक इसके विपरीत है। प्रथम पद्धति की यात्रा जहां समाप्त हो जाती है उसी स्थल से दूसरी पद्धति की यात्रा प्रारम्भ होती है। उसके चरण साहित्य के क्षेत्र में पहले से ही जमे रहते हैं। उसको ही base बनाकर वह दूसरे क्षेत्रों की ओर अग्रसर होती है। पहली पद्धति दूसरे देशों से सैनिक संधि कर, उनकी सेना को लेकर साहित्य के क्षेत्र पर आक्रमण करती है। दूसरी पद्धति दूसरे राष्ट्रों से सैनिक मैत्री नहीं करती। वह अपने ही देश की सारी शक्तियों को संगठित करती है, Conscription की आज्ञा प्रचारित करती है, प्रत्येक योग्य तथा सक्षम नवयुवक को सेना में भर्ती करती है, उन्हें सैनिक शिक्षा देती है। इस तरह सुजज्जित हो, राष्ट्रीयता के भावों से उमगती हुई सेना को लेकर वह अन्य क्षेत्र की ओर बढ़ती है, चाहे वह क्षेत्र इतिहास का हो, अर्थशास्त्र का हो, मनोविज्ञान का हो अथवा जीवनवृत्त का।

पहली पद्धति दूर से चलकर साहित्य के क्षेत्र में आकर विश्राम लेती है, दूसरी पद्धति साहित्य के क्षेत्र से चलकर दूर देश की यात्रा करती है। तीसरी पद्धति इन दोनों से पृथक है। वह साहित्य क्षेत्र की है और उसी की होकर रहती है। वह अपने पूरे ध्यान को रचना की शब्दावली पर ही केन्द्रित करती है। वह न तो साहित्य के क्षेत्र में ही किसी विदेशी वस्तु को लाने की चेष्टा करती है और न साहित्य को ही विदेश भ्रमण करने के लिए ले जाना चाहती है। वह कहती है कि हमें अपने क्षेत्र को छोड़ कर इधर-उधर जाने की कोई जरूरत नहीं। यदि हम कहीं दूर देश से चल कर आयें भी हों, तो साहित्य के अमृतकलश की एक घूंट से ही तृप्त होकर हम अन्य सारी बातों को भूल जाते हैं; या हमें भूल जानी चाहियें और

इस तरह अन्य बातों के ज्ञान का प्रश्न साहित्य के मूल्यांकन के समय उठता ही नहीं ।

गुंचे हमारे दिल के इस बाग में खिलेंगे ।
इस खाक से उठे हैं इस खाक में मिलेंगे ।

यह है, हमारी नई आलोचना !

इन तीनों पद्धतियों में से यहां हमारा सम्बन्ध है दूसरी पद्धति से; जो साहित्य के क्षेत्र में पांव जमा कर दूसरे क्षेत्रों की ओर आगे बढ़ती है। हम यह देखना चाहते हैं कि हम कृति के आधार पर कृतिकार तक पहुंच सकते हैं या नहीं, उसके जीवनवृत्त का पुनर्निर्माण कर सकते हैं या नहीं । कृतिकार के जीवनवृत्त की सीमा तो बहुत व्यापक हो जाती है, उसके व्यापकत्व के क्षेत्र में तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक इतिहास भी आ जाता है कारण कि जीवन की घटनाओं के स्वरूप निर्धारण में तो परिस्थितियों का हाथ अनिवार्यतः रहता ही है । परन्तु हम अपने को इतनी बड़ी परिधि के फैलाव में नहीं रखेंगे । हम अपने को मनोविज्ञान तक ही सीमित रखेंगे, उन्हीं घटनाओं को लेंगे जिनका साक्षात् सम्बन्ध व्यक्ति के मानसतत्व, उसकी मानसिक प्रक्रिया से है अथवा जिन्हें सहज ही किसी मानसिक शक्ति के कारण-कार्य-शृंखला में बैठाकर देखा जा सके ।

एक बार अलवर में राजस्थान साहित्य अकादमी की उपनिषद् में, हिन्दी के एक प्रमुख कथाकार जब उद्घाटन भाषण दे रहे थे, तो मैंने देखा कि श्रोतागणों में से कुछ लोग अपनी हथेलियों में कुछ पुष्पों को लेकर मसल रहे थे, कुछ फूलों की पंखुड़ियों को छिन्न भिन्न कर रहे थे, कुछ लोग फूलों को उछाल रहे थे । इसी तरह अनेक व्यक्ति भाषण श्रवण के साथ साथ अनेक तरह के व्यापारों में मग्न थे ; जिनका भाषण-श्रवण से कुछ

भी सम्बन्ध नहीं हो सकता था। पर ये क्रियायें कुछ ऐसे सहज ढंग से हो रही थीं मानों उन श्रोताओं को इस असंगति का आभास मात्र भी न हो। मुझे तुरन्त कालिदास की पार्वती याद आई।

एवं वादिनि देवर्षौ पितुः पार्श्वे अधोमुखी।
लीला-कमल-पत्राणि गणयामास पार्वती।

अर्थात् जब देवर्षि नारद पार्वती के विवाह की चर्चा हिमालय से कर रहे थे तो उस समय अपने पिता के पार्श्व में खड़ी अधोमुखी पार्वती कमल की पंखुड़ियों को गिन रही थी। यहां पर लीला-कमल-पत्रों की गणना करना एक घटना है! जीवन वृत्त है!! घटना को सहज ही पार्वती के मनोविज्ञान के संदर्भ में देखा जा सकता है। एक मनोवैज्ञानिक सहज ही में पार्वती की जीवन-कथा को इस व्यापार से मिला कर देख सकता है। इसमें एलेक्ट्रा ग्रन्थि, अथवा जितने भी Defense Mechanism की बातें आधुनिक मनोविज्ञान वेत्ताओं ने बताई हैं; उनका कच्चा चिट्ठा उघाड़ कर रख सकता था।

वह पूछ सकता है कि पार्वती ने अपने को कमल की पंखुड़ियों की गणना तक ही क्यों सीमित रखा ? वह और कुछ भी तो कर सकती थी ? वहां से टल ही जाती; ऐसे अवसर पर कुमारियां ऐसा ही करती आई हैं। अथवा यदि वहां से टली नहीं तो पैर के अंगूठों से धरती को कुरेदने भी लग सकती थी ? दांतों तले अंगुली भी तो दबा सकती थी ? वह भोली भाली नहीं थी कि उसको कुछ ज्ञान भी नहीं था। हमने देखा है उस तरुणार्कराग वस्त्र धारण करने वाली पुष्पस्तकावनम्रा को,संचारिणी पल्ल-विनी लता को, नितम्ब से स्रस्त होने वाली कनकदाम कांची को पुन पुनः

सम्भालती हुई, अपने मुख के फेरे देने वाले भ्रमरों को निवारण करती हुई विचित्र भाव भंगी से शंकर की पूजा करने जाने वाली पार्वती को। अतः एक मनोविज्ञान वेत्ता इसी घटना के सूत्र के सहारे पार्वती के जीवन-वृत्त की कल्पना कर सकता है। वह कह सकता है कि एकबार पार्वती जब अपने पिता की पूजा के लिए उद्यान में पुष्प लाने गई तो उसने पुष्पस्तवकों पर भ्रमर और भ्रमरियों को परस्पर अनुगमन करते देखा तो इतनी विभोर हो गई कि पुष्पों को चुनना भूल गई, किसी अज्ञातावेश में मग्न हो बैठ गई। इधर हिमालय की पूजा के समय का अतिक्रमण होने लगा तो लोगों ने जाकर देखा कि पार्वती किसी पुष्पलता के नीचे भावमग्न अवस्था में बैठी है। यदि पार्वती के साथ यह घटना नहीं घटी हो तो कालिदास के साथ ही सही।

दुर्भाग्य से हमें कालिदास या पार्वती की विस्तृत जीवन कथा प्राप्त नहीं है। यदि प्राप्त होती और उनके जीवन की एक-एक घटना का पता होता तो हमें यह लीला-कमल-पत्र की गणना को वहां देख लेना कठिन भी नहीं होता। पर ये लोग जो भाषण के समय तरह-तरह के व्यापारों में मग्न थे, उनकी जीवनी तो प्राप्त है। यदि प्राप्त नहीं है तो उसे प्राप्त किया जा सकता है। उन्हें विश्वास में लेकर उनसे बातें पूछी जा सकती हैं। यदि वे नहीं बताते हैं तो एक कुशल जासूस की तरह हम उसका पता लगा सकते हैं। यह सारा जीवन अभिव्यक्ति है। हम सब अपने को अभिव्यक्त कर रहे हैं। कोई किसी तरह, कोई किसी तरह। कोई लिख कर अभिव्यक्त कर रहा है, तो कोई चोरी डकैती कर, तो कोई नेता या उपदेशक बन कर। गांधी भी अपने को अभिव्यक्त कर रहे हैं, जिन्ना तथा भगतसिंह भी; इन लोगों को व्यक्ति में पा लेना कठिन नहीं है।

आप अपने जीवन में दो तरह के व्यक्तियों के सम्पर्क में आये होंगे। एक व्यक्ति है। बड़ा परिश्रमी है, जी तोडकर परिश्रम करता है, अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आकाश पाताल का कुलावा एक कर देता है। पर अपने कृतित्व तथा उपलब्धि से उसे कभी भी संतोष नहीं होता। उसके मन में सदा यह भावना बनी रहती है कि संसार ने उसके परिश्रम तथा प्रतिभा का यथोचित सत्कार नहीं किया। उपेक्षा का डर उसके हृदय को सदा कचोटता रहता है। दूसरी ओर आप ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में भी आये होंगे जिन में अद्भुत आत्म-विश्वास होता है। वे परिश्रम नहीं करते, साधना का कष्ट उठाना उन्हें अच्छा नहीं लगता, पर साथ ही उनकी इच्छा यह होती है कि सफलता उनके पैर चूमे, उनकी इच्छा की पूर्ति तुरत हो जाय; और उनकी इच्छा पूरी भी होती है! अथवा जो कुछ भी उपलब्धि होती है, उसे ही वे इच्छा की पूर्ति मान लेते हैं!!

यदि आप मनोवैज्ञानिक हैं, मनुष्य के कार्यकलाप जो रूप धारण कर लेते हैं, उनके Pattern के निर्माण के मानसिक रहस्यों के ज्ञाता हैं, तो आप को कल्पना कर लेने में कोई भी कठिनाई नहीं होगी कि प्रथम मातृ-दुग्धवंचित बालक है। जब वह बालक था तो इसे मातृ-हीन जीवन व्यतीत करना पड़ा था; अथवा यदि माता जीवित भी थी तो उसके स्तनों में दूध की कमी थी। बालक बिचारा दूध के लिये बहुत रोता था, हाथ पैर पटकता था, तब कहीं उसे थोड़ा दूध मिलता था। जो दूध मिलता भी था, उस में माता के स्तनों की उष्णता न थी, बोतल की ठंडक तथा निर्जीविता थी। आज भी वह Bottle-fed-baby ही बना हुआ है।

दूसरी और दूसरे व्यक्ति की कहानी दूसरी हो सकती है। वह स्वस्थ माता का पुत्र था, माता के स्तनों में दुग्ध की धारा प्रवाहित होती रहती थी। जहां उसने संकेत किया कि दूध-भरे गर्म-गर्म स्तन उसके लिये उपस्थित हैं, उसके लिए उसे जरा भी परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है। आज भी उसी तृप्त बालक की तरह वह व्यवहार कर रहा है। चाहता है कि सारी दुनियां उसके संकेतों पर नाचे, और दुनियां नाचती भी है।

इस तरह के अध्ययन, अंग्रेजी साहित्य में बहुत उपस्थित किये गये हैं। राबर्ट लुई स्टेवेन्सन की एक प्रसिद्ध पुस्तक है Dr Zekyll and Mr Hyde. इसमें एक ऐसे व्यक्ति की कथा कही गई है, जो दुहरे व्यक्तित्व का था। एक व्यक्तित्व सभ्य, सौम्य तथा मानवीय गुणों से परिपूर्ण था, दूसरा शैतान था, राक्षस था, नारकीय कृत्यों का पुंज। जब एक दवा खा लेता था, तो दूसरे व्यक्तित्व की स्थापना हो जाती थी और पहला व्यक्तित्व तिरोहित हो जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने कहा है, हो न हो स्टेवेन्सन की यह कथा उसके बाल्यकालीन जीवन की कथा से सम्बद्ध है; जिसने उसे अपनी कल्पना को इस ढंग से ढालने को प्रेरित किया। स्टेवेन्सन को मां का दूध भर पेट पीने को नहीं मिला था, वह बराबर दूध के लिए तरसता रहा। यही कारण है कि उसके उपन्यास में प्रीतिभोजों और भोजन समारोहों के वर्णन की भरमार है। इस उपन्यास की मुख्य धुरी कोई पेय पदार्थ है, जिस पर कथा का चक्र घूमता रहता है। स्टेवेन्सन अपने बालकालीन ग्रन्थियों से मुक्त नहीं हो सका है, शायद कोई भी नहीं हो सकता; और आज भी अपनी मौखिक मांगों की पूर्ति प्रकारान्तर से कर रहा है। स्टेवेन्सन की जीवनी लेखकों ने पता लगा कर

देखा है कि मनोवैज्ञानिकों के द्वारा सुझाई गई ये बातें गलत नहीं। जब वह बालक था तो उसकी मां एक डायरी रखती थी जिसमें उल्लिखित बातों से इन बातों का समर्थन होता है।

शेक्सपियर का जगविख्यात दुःखांत नाटक 'हैमलेट' की कहानी प्रसिद्ध है। अपने पिता की हत्या करने वाले व्यक्ति से बदला लेने के लिए तथा उसके वध करने के लिए हैमलेट प्रतिश्रुत है। चाहता है कि किसी तरह वह पितृहन्ता की हत्या कर डाले। पर फिर भी उस पर कुछ ऐसी लाचारी है कि वह अपनी प्रतिज्ञा को पूरी नहीं कर पाता। कोई ऐसी अदृश्य शक्ति है जो उसे ऐसा करने से रोकती है। ऐसा क्यों है? इसके विरोधाभास के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अनेक व्याख्यायें दी गई हैं। कुछ लोगों का विचार है कि हैमलेट वैसे व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी बौद्धिकता क्रियात्मक शक्ति को चर गई है अर्थात् कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो चिन्तन में इस तरह डूबे रहते हैं कि काम करने की उनकी शक्ति जाती रहती है। हैमलेट ऐसा ही व्यक्ति है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि इस नाटक में, शेक्सपियर ने मनोविकार-ग्रस्त तथा संकल्पहीन व्यक्ति का चित्रण किया है जिसे न्यूरेसथेनिया का रोग है। ऐसे ही "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" की तरह, जितने विचारक उतने ही मत।

परन्तु सबसे विचित्र, पर विश्वासोत्पादक मत मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने वालों का है। उनका कहना है कि यह कहना कि हैमलेट मनोविकार-ग्रस्त तथा संकल्पहीन न्यूरेस्थेनिक व्यक्ति है सत्य का अपलाप है, क्योंकि इस सिद्धांत का समर्थन हैमलेट के अन्य क्रियाकलापों से नहीं होता। हैमलेट निश्चेष्ट अकर्मण्य व्यक्ति नहीं है, क्योंकि अवसर आने पर दो-दो तीन-तीन व्यक्तियों की हत्या करने में उसे जरा भी हिचक नहीं। तब क्या

कारण है कि वह यहीं पर कच्चा पड़ जाता है। पिता की मृतात्मा ने हैमलेट को अपने हत्याकारी से प्रतिशोध लेने की शपथ दिलाई है। इस पर भी वह कार्य पूरा नहीं कर सकता तो एक मात्र कारण यही है कि इस कार्य का रूप ही कुछ ऐसा था, जिसे वह कर नहीं सकता था। जिस व्यक्ति ने उसके पिता की हत्या की और उसकी मां के साथ विवाह कर वह मां के साथ उसी रूप में संबद्ध हो गया जिस रूप में उसका पिता था; उसकी हत्या न करने में उसे कोई न कोई आन्तरिक विवशता थी।

यदि इडिपस ग्रन्थि वाले सिद्धांत के टर्म्स में विचार किया जाय तो पता चलेगा कि पिता के हत्याकारी ने, उसकी बाल्यकालीन प्रच्छन्न इच्छा की पूर्ति की है। बाल्यकालीन अवस्था में वह अपने पिता को मातृप्रेम के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखता था, समझता था कि वह पिता माता की प्रेमोपलब्धि में बाधक है। अतः उसको किसी न किसी तरह यहां तक कि हत्या के द्वारा भी अपने मार्ग से हटा देना चाहिये। आज एक दूसरे व्यक्ति ने प्रकारान्तर से उसकी ही इच्छा की पूर्ति की है तो उसके विरोध में उसकी हत्या को बांह कैसे उठे भला। अतः यहां हम शैक्सपियर अर्थात् हैमलेट के निर्माणकर्ता के मनोविज्ञान के सीधे सम्पर्क में आते हैं। हम यह देखते हैं कि हैमलेट की रचना शैक्सपियर के पिता की मृत्यु के दिनों के समीप हुई है अर्थात् उन दिनों में जब वह अपने पिता की चैत्यिक क्रिया से निवृत्त भी नहीं हुआ था। यह एक ऐसा अवसर है जब कि पिता के सम्बन्ध को लेकर हमारे मस्तिष्क में जितनी अज्ञात शक्तियां या प्रेरणायें होती हैं वे सक्रिय हो जाती है। मैकबेथ के निर्माण का आधार भी हैम-लेट की तरह संतानहीनता ही है। यह भी जानी हुई बात है कि शैक्स-पियर का एक पुत्र था जो बाल्यकाल में ही मर गया था। उसका नाम

हैमनेट था। हैमनेट और हैमलेट में कितनी समानता है। अतः शैक्सपियर की जीवनी से प्राप्त मनोविज्ञान का प्रतिबिम्ब स्पष्टतः उसकी रचनाओं में दीख पड़ता है। वे पारस्परिक सहयोग से एक दूसरे की सहायता कर रहे हैं। कालिदास के शब्दों में "अन्योन्य-शोभा-जननाद् वभूव साधारणो भूषण भूष्य भावः।"

प्राचीन काल के लेखकों की विशुद्ध जीवनी का पता लगाना कठिन है। लोगों में ऐतिहासिक बुद्धि का इतना विकास नहीं हो सका था। अतः उनकी कृतियों के आधार पर उनके जीवनवृत्त के Pattern की खोज तो की जा सकती है। पर हमारे सामने कोई ठोस आधार नहीं है जिसके सहारे उनकी सत्यता की जांच की जा सके। पहले तो सब महान् आत्माओं की जीवनी का ढांचा एक ही तरह का होता था। महावीर और बुद्ध का जीवनवृत्त एक ही तरह का है। बचपन से ही उनमें प्रतिभा के बीज परिलक्षित होने लगते हैं। कुछ संत प्रारम्भ में घोर कामासक्ति के शिकार रहेंगे। बाद में किसी महात्मा के सम्पर्क से अथवा किसी प्रभावशाली घटना से उनके हृदय में ऐसी प्रतिक्रिया होगी कि उनके जीवन का प्रवाह ही बदल जायेगा।

पर अब परिस्थितियों में परिवर्तन आया है। लोगों के विस्तृत जीवन वृत्त की कथा को सुरक्षित रखने की ओर लोगों का ध्यान गया है। न्यूयार्क के हाइड पार्क में एक पूरा पुस्तकालय ही है जिसमें Franklin Delano Roosevelt की जीवनी तथा उसके समय से सम्बन्धित सामग्री भरी पड़ी है। चर्चिल वगैरह ने स्वयं ही अपने बृहद् संस्मरण लिखे हैं पर फिर भी उनके जीवन पर प्रकाश डालने वाली इतनी सामग्री उपलब्ध है कि उसे भी रखने के लिए एक बहुत बड़े पुस्तकालय की

आवश्यकता पड़ेगी। ऐसी अवस्था में लेखकों के साहित्य की राह से होकर उनके जीवनवृत्त की ओर बढ़ना उतना भयावह नहीं है। मनोविज्ञान से जो कुछ संकेत मिलें दूसरे साधनों के द्वारा उनकी सत्यता की परीक्षा की जा सकती है।

*

जब मैं "आधुनिक हिन्दी साहित्य और मनोविज्ञान" नामक शोध प्रबंध के लिए सामग्री एकत्र कर रहा था तो मेरे पूज्य निरीक्षक आचार्य प्रवर डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय जी ने सुझाव दिया था कि कथाकारों की रचनाओं के आधार पर उनके मनोविज्ञान का अध्ययन किया जाय। मतलब यह कि हमारा दृष्टिकोण एक मनोविश्लेषक का हो जो अपने रोगियों के विकार के मूलोद्गम का पता लगाने के लिए उनकी क्रियाओं का, व्यवहारों का, अंग संचालन का, भूलों का, जीभ की फिसलन का, उनके स्वप्नों का सूक्ष्म अध्ययन करता है, मुक्त आसंग वाली पद्धति से उपलब्ध बातों पर विचार करता है, और सब की संगति बैठाकर अपना मत निश्चित करता है। उसी तरह हम कथाकार की कृति को इस तरह देखें मानों वह कथाकार के अभ्यंतर में काम करने वाली प्रेरणा का पुंजीभूत रूप हो। ऐसा मानकर हम उस प्रेरणा के मूलस्वरूप को पहचानने में समर्थ हो सकते हैं। मेघदूत में यक्ष ने मेघ से हिमालय का वर्णन करते हुए कहा है।

> शृंगोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
> राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहास्यः।

"जिसके उज्ज्वल शिखर आकाश में इस तरह फैले हुए हों मानों दिन-दिन एकत्र किया हुआ शिवजी का अट्टहास हो।" मेघ ने, कहिये कवि

ने पर्वत की विशाल उज्ज्वल अभ्रंलिह चोटियों को देखा। यह कथाकार का विशाल उपन्यास है। उसे देखकर कवि की कल्पना में तत्परत्व जागरित हुआ। उसने उडान भर कर देखा कि अरे यह जो बड़ा सा हिमालय दीख पड़ता है, ठोस पत्थर का पुंज, निस्सीम, वह तो कुछ नहीं, शिव के दैनिक अट्टहास की राशिमात्र हैं। उसी तरह आलोचक को मनोविज्ञान बतला सकता है कि कथाकार के वृहद्-काय उपन्यासों के स्वरूप को संगठित करने वाली एक मानस की ग्रन्थि है जो उसके बचपन में किस घटना के कारण बन गई हो और वह आज भी लेखक को अपनी अभिव्यक्ति के लिए बेताव करती रही हो।

इस तरह कृति के सहारे कृतिकार के मनोविज्ञान के अध्ययन का प्रयत्न यहां किया जायेगा। अर्थात् यहां पर हमें मनोविश्लेषक बन जाना पड़ेगा। मनोविश्लेषक और साहित्यिक मनोवैज्ञानिक का कार्य बहुत हद तक समान है, एक तरह का हैं। दोनों के पास Subject की जीवन प्रतीक सामग्री है। मनोविश्लेषक के सामने स्वप्न हैं, भूलें हैं, रहन-सहन का ढंग है, इत्यादि। साहित्य-मनोविज्ञान के सामने विशाल रचना समूह है। परन्तु अन्तर केवल इतना ही है कि साहित्य के सामने जो सामग्री है वह मृत है, निर्जीव है, प्रश्न करने पर बोल नहीं सकती। पर मनोविश्लेषक के सामने शांत वातावरण में आरामदेह सोफे पर पड़ा हुआ जीवित व्यक्ति है जो हर तरह से सहायक हो सकता है। इतने से अन्तर को छोड़कर दोनों का कर्तव्य करीब-करीब एक सा ही है और दोनों को एक ही तरह सामग्री तथा पद्धति से काम लेना पड़ता है।

परन्तु इस तरह के प्रयत्न की ओर अग्रसर होने के पहले यह देख लिया जाय कि और लोगों ने इस तरह के प्रयत्न किये गये हैं या नहीं।

और यदि किये है तो उनका क्या परिणाम हुआ ? हिंदी में तो इस तरह का प्रयत्न हुआ नहीं ; "जीवितकवेराशयो न वक्तव्यः" कहकर इस तरह के प्रयास के मूल पर ही कुठाराघात कर दिया गया है। पर यह बात आजकल की मान्यता से, विशेषतः जिस तरह की अध्ययन-पद्धति की चर्चा होरही है, उससे एकदम विपरीत है। कारण कि इस तरह के प्रयास से जो तथ्य उपलब्ध हों उनकी सत्यता की जांच के लिए दो बातें आवश्यक हैं ; प्रथमतः तो कवि जीवित हो, तभी तो वह अपने सम्बन्ध में कही गई बातों के बारे में कुछ अधिकार पूर्वक कह सकेगा अथवा उस से कहलाया जा सकेगा ; यदि जीवित नहीं है, तो दूसरा उपाय यह है कि उनके जीवन से सम्बन्धित विपुल सामग्री प्राप्त हो। ये दोनों बातें हिन्दी में मौजूद नहीं। मौजूद नहीं हैं, इस बात को गलत ढंग से नहीं समझा जाय। मैं यह कह ही कैसे सकता हूं कि आज हिन्दी साहित्य में कोई भी कथाकार या कवि जीवित नहीं है। कहने का अर्थ केवल यह है कि बहुत कम ऐसे साहसी, निर्भीक और स्पष्ट (Frank) साहित्यिक हैं, जो अपने को मनोविश्लेषण की कसौटी पर कसे जाने में सहयोग दे सकें। पर अंग्रेजी में इस तरह के अनेक अध्ययन प्राप्त हैं। उनमें एक को मैं यहां लूंगा।

Leon Edel ने अपनी छोटी पुस्तक Literary Biography में Willa Cather के उपन्यास The Professor's House को लेकर इस तरह के अध्ययन का प्रयत्न किया है। इसमें Professor St Pater की कथा है। ये एक ख्याति प्राप्त प्रोफेसर है। अध्यापक रूप में इन्होंने पर्याप्त यश अर्जित किया। लक्ष्मी की भी इन पर कृपा रही। अभी हाल ही में इन्हें अपनी एक महत्त्वपूर्ण रचना पर पुरस्कार प्राप्त हुआ और इन्होंने अपनी पुत्री तथा पत्नी की प्रसन्नता के लिए एक सुन्दर

मकान बनवाया है। इनकी पुत्री Rosamond का विवाह एक चुस्त दुरुस्त चलते पुर्जे तथा प्रदर्शनप्रिय Louie Marsellus नामक नवयुवक से हुआ है। रोजामण्ड के प्रेमी तथा प्रोफेसर के एक शिष्य Tom Outland के आविष्कार का प्रयोग अपने व्यापार की उन्नति के लिए करके, इसने परिवार की समृद्धि में योग दिया है। पर प्रोफेसर को इन लोगों के आधिभौतिक दृष्टिकोण से सन्तोष नहीं और वह दिन प्रति दिन इन लोगों से कट कर मनसा अलग पड़ता जाता है। उसका परिवार उसके हृदय के भावात्मक अंश को संतुष्ट नहीं कर पाता। अतः वह अपने पुराने मकान को जहां उसने जीवन के २५ वर्ष व्यतीत किये हैं, छोड़ना नहीं चाहता और यदि छोड़ता भी है, तो नये मकान की एक कोठरी में सबसे अलग रह कर ही जीवन-यापन करता है। कहने का अर्थ यह है कि धन-धान्य पुत्र कलत्र सब तरह से भरे-पूरे रहने पर भी उसे सन्तोष नहीं, एक अभाव की पीड़ा उसे कचोटती रहती है।

पुस्तक के दूसरे भाग में प्रोफेसर के प्रिय शिष्य Tom Outland की कथा कही गई है। इस कहानी का प्रमुख अंश वह है जहां पर Outland अपने Roddy नामक एक मित्र के सहयोग से मैक्सिको के पर्वतीय प्रदेश में एक गुफा को खोज निकालता है जिसमें कुछ आधुनिक सभ्यता से अछूती वन्य जातियां निवास करतीं हैं। यहां का जीवन आदिम ढंग का पर साथ ही जटिल भी था। यहां पर उसने कुछ ऐसे बर्तन पाये जो पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। इसी तरह की अनेक सामग्रियों के नमूने लेकर वह वाशिंगटन आया और अधिकारियों से मिलकर इन महत्त्वपूर्ण वस्तुओं की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना चाहा। पर वहां की लाल फीताशाही तथा अधिकारियों के ठंडे, रूखे

तथा उदासीन व्यवहार से बड़ी निराशा हुई। इस तरह निराश होकर जब वह पुनः उस पर्वत स्थान को लौटता है, तो पाता है कि उसके साथी ने जर्मन पुरातत्त्व प्रेमी के हाथों अच्छे मूल्य पर उन सब सामग्रियों को बेच दिया और सारी धन-राशि को अपने मित्र Outland के नाम से बैंक में जमा कर दिया है। मित्र तो सद्भावना से प्रेरित था और उसने मन में यही सोचा था कि वह Outland के हित की दृष्टि से ही यह सब व्यापार कर रहा है। पर Outland ने इसको विश्वासघात के रूप में ग्रहण किया, क्रोध में आकर अपने मित्र से सारे सम्बन्ध विच्छेद कर लिये और एकान्तवास करने के लिए उसी उच्च शिखरस्थ गुफा में चला गया। वहां रह कर अपने सारे साहसिक क्रिया-कलापों को लिपिबद्ध किया। कुछ दिनों के बाद वह पर्वत से उतर आया, बैंक से रुपये निकाले, कालेज में जाकर अध्ययन करने लगा और वहीं पर उसकी प्रोफेसर से मुलाकात हुई, जो उसका गुरु तथा पथप्रदर्शक बना।

तृतीय भाग में पुनः प्रोफेसर की कहानी कही गई है। अकेले, उदास, निस्तेज, मुर्दादिल वह कोठरी में जीवन व्यतीत कर रहा है। उसके परिवार के अन्य सदस्य ग्रीष्म ऋतु बिताने के लिए कहीं बाहर गये हैं। एक दिन नींद के टूटने पर वह पाता है कि धूयें से सारा कमरा भर गया है और उसका दम घुट रहा है पर उठकर खिड़कियों को खोलने में अपने को वह असमर्थ पा रहा है कि शुद्ध वायु का संचार हो सके। मानो उसमें जीवित रहने की इच्छा का ही अभाव हो गया हो। भाग्यवश उसकी नौकरानी ठीक समय पर आ जाती है और प्रोफेसर के प्राणों की रक्षा करती है। यहीं उपन्यास की समाप्ति होती है।

इस उपन्यास का विवेचन तीन स्तर पर किया जा सकता है। साहित्य

क स्तर पर, मनोविश्लेषण के स्तर पर तथा आत्मकथा के स्तर पर। साथ ही यह भी देखना होगा कि इन तीनों स्तर पर से की गई आलोचनाओं में कहां तक पारस्परिक संगति है।

कुछ लोगों ने इस उपन्यास पर साहित्यिक अथवा कलात्मक दृष्टि से विचार किया है। कलात्मक दृष्टि की प्रमुख समस्या यह होती है कि आलोच्य वस्तु के भिन्न भिन्न भागों में कहां तक परस्परान्विति के तत्व वर्त्तमान हैं और वे सब मिलकर कहां तक संगठित पूर्णता का आभास देते हैं। यदि आपाततः आलोच्य वस्तु के भिन्न–भिन्न अंश संगठित से नहीं देख पड़ते तो कला के आलोचक का यह प्रयत्न होता है कि उसमें कोई ऐसा बिन्दु ढूंढे, जिस स्थान पर खड़े होकर देखने से, वस्तु के कलात्मक ऐक्य को ठीक से देखा जा सके। कला का पारखी यह मानकर चलता है कि हमारे पास जो वस्तु उपस्थित है वह यों ही नहीं परन्तु किसी सृजनात्मक प्रेरणा के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आई है। अतः इसमें कोई ऐसा संयोजक तत्व अवश्य है जिसने सारे अवयवों को एक संगठन में आबद्ध कर रखा है। उसे ढूंढना होगा और तब तक ढूंढना होगा, जब तक वह हर तरफ से निराश न हो जाय। वह स्रष्टा को Benefit of doubt देने के लिए सदा तैयार रहता है। वह प्रयत्नपूर्वक रचना के उस शीर्षस्थल पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करता जिसकी ऊंचाई परसे देखने पर असंबद्ध से दीख पड़ने वाले अंश भी सीधे होकर दीख पड़ने लगें।

इस उपन्यास के पाठक की मुख्य कठिनाई यह है कि इसमें आई हुई कथाओं में संगठन के तत्व दीख नहीं पड़ते। पहले भाग में प्रफेसर के पारिवारिक जीवन की कथा है, दूसरे में Outland की कथा आ जाती

है। तीसरे भाग में पुनः प्रफेसर की कथा आ जाती है जो मरते-मरते बचता है। सारे उपन्यास में एक व्यापक गतित्व चाहिए, जिसके व्यापकत्व की सीमा में सारी वस्तुएं यथास्थानावस्थिति की धारणा उत्पन्न कर सकें। प्रोफेसर ब्राउन ने पाठकों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया है कि यदि हम 'गृह' के प्रतीकात्मक स्वरूप को ध्यान में रखें तो सारी असंगतियां दूर हो जाती हैं। प्रोफेसर के पास दो गृह हैं, एक पुराना और दूसरा नया। पुराना गृह उसके लिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह उसके जीवन सम्बन्धी आध्यात्मिक मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है। नया गृह तुच्छ है क्योंकि इसकी नींव आधिभौतिकता पर है और इस तरह उसके जीवनव्यापी स्वप्नों पर कुठाराघात है। उसका शिष्य जिस पार्वत्य गुफा का पता लगाता है उसके साथ भी प्रफेसर को सहानुभूति है, कारण कि यह मानवता के वास्तविक गौरव तथा आध्यात्मिक मूल्यों का ही प्रतीक है।

तीसरे भाग में आकर इन गृहों को लेकर जो मानसिक संघर्ष चल रहा है उसका स्वरूप स्पष्ट है और उपन्यास की कलात्मकता स्पष्ट होती है। प्रथम भाग में प्रोफेसर के हृदय में नये गृह के प्रति जो एक अनिच्छा है, विरक्ति है, औदासीन्य है, वह स्पष्ट है। तीसरे भाग के प्रारम्भ में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि परिवर्तनशील परिस्थितियों के कारण उसके लिये पुराने गृह में रहना सम्भव नहीं, उसे समय के साथ बदलना पड़ेगा; वह बदलता भी है। पर बाद में ऐसा लगता है कि उसका विकास रुक गया है, उसके व्यक्तित्व में नूतन वायु का संचार होना रुक गया है और वह फिर से अपने बाल्यकालीन जीवन (पुराने गृह) की ओर प्रत्यावर्तन करने के लिए प्रेरित हो रहा है। भविष्य उसके लिए रुक गया है और

वह भूत, मृत्यु अर्थात् अपने तृतीय गृह के लिए तैयारी कर रहा है।

गृह की प्रतीकात्मकता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर और प्रोफेसर की मानसिक क्रियाओं के स्वरूप का रहस्योद्घाटन कर, ब्राउन ने उपन्यास के कलात्मक ऐक्य सूत्र को सफलतापूर्वक खोजकर पुस्तक के साहित्यिक महत्त्व को बतलाया है और अब इतना हो गया है कि इसके चलते पुस्तक के रसास्वादन में पाठक को सहायता मिली है। पर इस आलोचना से एक बात को समझने में कुछ भी सहायता नहीं मिलती। प्रोफेसर पीटर के विषाद असन्तोष अवसन्नता तथा खिन्नता का कारण क्या है? वह हर तरह से पूर्ण है, लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की उस पर कृपा है, उसकी सन्तान हर तरह से फल-फूल रही हैं। स्वयं प्रोफेसर ने भी कितनी ही महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की रचना कर, अपार यश का अर्जन किया है। तब उसे किस बात की कमी है, जो उसे बेचैन किये रहती है।

चलें मनोविश्लेषण के पास, शायद वह इस प्रश्न को लेकर इस पर कुछ प्रकाश डाल सके। वह कहानी को ध्यानपूर्वक सुनकर कहेगा; इसमें हमें एक ही सूत्र हाथ लगता है, जिसके सहारे हम प्रोफेसर के आन्तरिक गोपनीय रहस्यों का कुछ-कुछ पता चला सकते हैं। सारी कथा में प्रोफेसर साहब के गृह-प्रेम की प्रमुखता छाई हुई है अपने पुराने वाले घर में वह सब से ऊपर वाली कोठरी में रहता है। उस का सारा परिवार नीचे रहता है। वह अपने परिवार वालों से एकदम अलग सा ही है। कभी-कभी ही इन दोनों में सम्पर्क होता है। मनुष्य जिस स्थान पर बहुत दिनों से रहता है, उससे प्रेम हो जाना अस्वाभाविक नहीं। परन्तु प्रोफेसर के गृह-प्रेम में ऐसा आतिशय्य है, प्रगाढता है, विवशता है कि वह मनोविकार की सीमा को छू रहा है और हमें अपने भीतर के इतिहास की ओर झांकने

के लिए प्रेरित कर रहा है। यदि प्रोफेसर अपने अध्ययन तथा साहित्यिक सृजन के लिए थोड़ा सा एकान्त चाहता है, तो कोई असाधारण बात नहीं, सभी ऐसा चाहते हैं। परन्तु उनके व्यवहार में एक विचित्रता है। वह अलग भी रहता है, पर साथ ही साथ अपने परिवार वालों की सेवाओं पर अधिकार का दावा भी करता है। चाहता है कि वे उसके सुख-सौविध्य का ध्यान रखें, उसकी देख-रेख करें, भोजन का ध्यान रखे। यदि इस तरह के व्यक्ति के मनोविज्ञान पर ध्यान दें, तो पता चलेगा कि उसकी मानसिक प्रक्रिया बच्चे की तरह है—वह बच्चा जो अपने को अपनी मां और उसके स्तन का एक मात्र स्वामी समझता है; उसका इच्छानुसार उपभोग कर सकता है, पर इसके लिए उसे किसी तरह का प्रतिदान भी करना है, इसकी कोई बाध्यता नहीं समझता। उसकी कोठरी उसकी मां के गर्भ की तरह है जिसके शांत, शीतोष्ण वातावरण में बाह्य संसार से दूर, अनुत्तरदायी, गर्भस्थ बालक की तरह अपने को सुरक्षित समझता है।

उस कोठरी में एक वृद्धा नौकरानी भी रहती है। साथ ही दो मूर्तियां भी हैं—एक नारी मूर्ति, ऐसी कि श्रद्धा के भाव उत्पन्न करती है, दूसरी में शारीरिक सौन्दर्य तथा आकर्षण की प्रधानता है। नौकरानी तो माता का प्रतीक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से माता के दो रूप होते हैं, एक में वह हमारी सुरक्षिका है और दूसरे में वह काम भाव का आधार होती है। ये दोनों मूर्तियां मानों माता के दोनों रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं अर्थात् अपनी एकान्त कोठरी में मां अपने दोनों रूपों के साथ उपस्थित है।

दूसरे भाग में Outland की जो कथा कही गई है वह भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसी से मिलती-जुलती है। नायक पर्वत के उच्च शिखर पर

गुफा की खोज करने में सफल होता है। गुफा नारी का प्रतीक है-उसकी मां का जो उसकी दृष्टि में कुमारी है। वहां मिट्टी के पुराने वर्तन प्राप्त करता है। ये वर्तन भी नारी के प्रतीक है। उसका जो साथी वर्तनों को बेच देता है वह उस भाई या पिता का प्रतीक है; जो उसकी मां के प्रेम का प्रतिद्वन्द्वी है। Outland अपने साथी से अलग होकर अकेला उस गुफा में चला जाता है, जहां कुछ दिन रह कर अपनी सारी साहसिक कथाओं को लिपिवद्ध करता है। ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि यह भी उसके मातृप्रेम का ही प्रतीक है; जिसे वह सर्वरुपेण स्वतन्त्र होकर उपभोग करना चाहता है।

जब प्रफेसर नये गृह में आता है तो, उपन्यास में कहा गया है कि वह नीचे की कोठरी में अपना निवास-स्थान बनाता है, ऊपर वाले भाग में परिवार के अन्य सदस्य रहते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका अर्थ यह होता है कि चाहे मनुष्य बचपन से भले ही चिपका रहना चाहे पर जीवन का प्रवाह तो आगे बढता ही जाता है। परिस्थितियां उसे बदलने के लिये बाध्य करती है। प्रोफेसर समझता है कि उसका युग बीत गया। उसे नीचे रहना पडेगा, दूसरे अब ऊपर रहेंगे। एक तरह से जीवन के साथ उसका समझौता है ; परन्तु फिर भी वह बालक ही हैं, जीवन से दूर ही पडता जाता है। उसके सामने दो विकल्प हैं—या तो वह अपने परिवार से सर्वथा अलग हो जाय अथवा अपनी अकर्मण्यता को छोड कर सक्रिय जीवन व्यतीत करे। उपन्यासकार में दिखलाया है कि प्रोफेसर का दम घुट रहा है। मानो वह कह रहा है कि मां गर्भ में आवश्यकता से अधिक दिन तक रहने से तो ऐसा होता ही है। उपन्यास के अन्त तक प्रोफेसर की समस्या का कुछ भी हल नहीं निकलता है; सिवा इसके कि अन्त में

जलकर मां पृथ्वी उसे अपने गर्भ में समाहित कर ही लेगी! अतः हम देखते हैं कि मनोविज्ञान ने मां तथा उसके गर्भ की मूर्ति को सामने लाकर प्रोफेसर की खिन्नता तथा विषाद का समाधान उपस्थित किया।

ऊपर मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के आधार पर उपन्यास के प्रमुख पात्र प्रोफेसर के जीवन के पैटर्न को, बाहरी ढांचे की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। अब इस उपन्यास की लेखिका Miss Willa Cather की वास्तविक जीवनी तथा उसकी घटनाओं से मिला कर देखा जाय तो पता चलेगा कि उपन्यास के नायक प्रोफेसर के व्यापारों तथा घटनाओं से विचित्र साम्य है। ऐसा लगता है कि लेखिका की जीवनी ही उपन्यास के पात्र, तथा उनकी घटनाओं का रूप-धारण कर सामने आ रहे हैं। E. K. Brown नामक एक व्यक्ति ने Willa Cather की एक प्रामाणिक जीवनी लिखी है तथा Edeth Lewis ने उसके संस्मरण लिखे हैं। इन दोनों पुस्तकों को मिलाकर अध्ययन करने से लेखिका के जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री प्राप्त हो सकती है। यहां विस्तार भय से लेखिका की सम्पूर्ण जीवनी का उल्लेख करना सम्भव नहीं। हम यहां पर कुछ मोटी-मोटी बातों पर ही सन्तोष करेंगे।

पहली बात तो यह कि इस उपन्यास की सारी प्रगति गृह-परिवर्तन तथा गृह-निर्माण की केन्द्र–भूमि पर चक्कर काट रही है। लेखिका की जीवनी से पता चलता है कि उसे भी जीवन में कितने ही बार परिस्थितियों से बाध्य होकर निवास-स्थान में परिवर्तन करना पड़ा है। अध्ययन करने वालों ने पता लगा कर देखा है, तत् अवसर पर लिखी कहानियों में तत्तन्निवास गृहों की छाया पाई गई है।

लेखिका के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है पीटर्सबर्ग की एक सम्पन्न महिला Isabelle Mcelung से उसकी मैत्री ! इस नवयुवती ने लेखिका को अपने संरक्षण में लिया और उसे अपने विशाल प्रासाद में निवास करने के लिए निमंत्रित किया । वहां पर शांत, सुन्दर, स्वच्छ कमरा दे दिया, जहां पर शांति पूर्वक रह कर साहित्य-प्रणयन का कार्य किया जा सके । लेखिका ने इस अवसर से लाभ भी उठाया और अनेक कहानियों तथा उपन्यासों की रचना की । इसी समय १९१६, १९१७ में नई घटना घटी । Isabelle ने Jam Hambourg नामक व्यक्ति से विवाह कर लिया। ठीक इस समय के बाद की रचनाओं में नई बात दीख पडने लगती है अर्थात् उनमें एक आंतरिक विक्षोभ, चिंता तथा असन्तोष की झलक आने लगी है । ऐसा लगता कि लेखिका किसी आंत-रिक चोट से बेताब है । इसी समय का उपन्यास है—Alose lapy जिसमें एक ऐसी नारी की कथा है जो निरंतर परिवर्त्तन-शील तथा प्रगतिशील संसार में रह कर भी प्राचीन विगत मूल्य के साथ चिपकी हुई है । इसी के पश्चात् The Professor's House नाम के उपन्यास की रचना हुई ।

इस उपन्यास के प्रारम्भ करने के पहले लेखिका अपनी सहेली के निमंत्रण पर फ्रांस में उनके महल में निवास करने के लिए गई थी। वहां पर उसे रहने की हर तरह की सुविधा थी, विवाहित दम्पत्ति उसके सुख-सौविध्य का हर तरह से ख्याल रखते थे और चाहते थे कि वह शांतचित्त तथा दत्तचित्त हो रचना कार्य में प्रवृत्त हो सके । पर जो होना था वह होकर रहा । Miss Carther को ऐसा अनुभव हुआ कि वहां रह कर उसके लिये काम कर सकना कठिन है ।

यहीं पर Leon Edel ने किंचिद् विस्तार से लेखिका की जीवन सम्बन्धी घटना तथा उपन्यास की घटनाओं की तुलना की है। सब बातों का उल्लेख करना सम्भव नहीं। पर कुछ पंक्तियां उद्धृत की जारही हैं जिनसे दोनों के साम्य का परिचय मिलेगा।

"Willa Cather's early uprootings have more meaning in explaining the attachment to a fixed abode than the universal uprooting from the womb; her mother's aloofness, and her search for substiute houses, can also be readily fitted into the novel. The Pittsburgh house with its sewing-room has been transferred into the professor 's frame house Like the professor of her fiction, Miss Cather won a prize during her middle years; like him, she achieved success. The new house at Ville Avray has become the new house built by the professer's family; it too was no subsitute for the old one, since in france Isabelle could no longer function for Willa Cather as a maternal figure exclusively possessed by her; she now had to share Isabelle with Jan-as she had to share her mother with her brothers; as the professor, though he dislikes it, must share Rosamond with Louie; and as Outland shares his Caves and pottery with Roddy, only to lose them.

ऊपर कहा गया है कि इसी समय से मिस काथर की रचनाओं में विषाद, अवसाद तथा निराशा की उग्र छाया मंडराने लगी है। पर लेखिका के जीवन की घटनाओं के ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद इसके रहस्य को जानने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती। लेखिका को आन्तरिक सुरक्षा की आवश्यकता है; पर वह ऐसा अनुभव करती है कि Isabelle के विवाह के पश्चात् इसकी सुरक्षा का आधार ही नष्ट होगया। अब तक तो अपनी सखी पर उसका एकाधिकार था और उसके स्नेह के साम्राज्य की वह एकाधिकारिणी थी पर विवाहोपरान्त उसमें हिस्सा बंटवाने वाला एक अन्य व्यक्ति आगया। जन्म से ही वह दुःखिनी रही, मातृहीन तथा पितृहीन। एक स्थान पर रह सकना उसके भाग्य में न था। इस स्थान से उस स्थान पर मारी मारी फिरी। आशा की एक पतली रेखा Isabelle के व्यक्तित्व में दीख पड़ी थी। वह भी धुंधली हो चली ब उसकी रक्षा कौन करे ? यही कारण है कि उसकी रचनाओं में नैराश्य की प्रधानता हो चली है।

ऊपर साहित्य की दृष्टि से, मनोविश्लेषण की दृष्टि से, उपन्यास पर विचार किया गया है। बाद में लेखिका की जीवन सम्बन्धी घटनाओं से मिला कर भी उपन्यास को देखा गया है। तब क्या यह कहना कठिन होगा कि रचना के आधार पर लेखक के जीवन के पैटर्न का पता लगा लेना कठिन है !!